हिन्दी-गद्य-गाथा

हिन्दी गद्य का विकास और इतिहास, हिन्दी-गद्य-लेखकों
की चरचा और हिन्दी की प्रचलित शैलियों की
समीक्षा तथा हिन्दी की वर्तमान उन्नति और
विकास की प्रवृत्तियों का संक्षिप्त निदर्शन

लेखक

सद्गुरुशरण अवस्थी, एम० ए०

(विश्वम्भरनाथ सनातनधर्म इन्टरमीजियेट कालेज, कानपुर)

प्रकाशक

सरस्वती पब्लिशिंग हाउस

इलाहाबाद

पहली बार } १९३५ मूल्य { सजिल्द १॥) { साधारण १।)

प्रस्तावना

इण्डियन प्रेस के अनुरोध से इण्टरमीडियेट के लिए मुझे एक गद्य-सङ्कलन प्रस्तुत करना पड़ा। उस गद्य-सङ्कलन के भूमिका रूप में मुझे हिन्दी-गद्य के इतिहास, हिन्दी की प्रचलित शैलियों का परिचय तथा हिन्दी की वर्तमान प्रवृत्तियों की चरचा करनी पड़ी। उसी भूमिका का नाम 'गद्य-गाथा' रखा गया था। लिखते-लिखते भूमिका इतनी बढ़ गयी कि इण्डियन प्रेस के लिए मुझे उसको संक्षिप्त करना पड़ा। इण्टर-मीडियेट के सङ्कलन में जो "गद्य-गाथा" का रूप निकला है, वह मूल का अधिक से अधिक तृतीयांश होगा। इस भूमिका को देखकर मेरे मित्रों ने आग्रह किया कि मैं उस लिखी हुई सम्पूर्ण 'गद्य-गाथा' का प्रयोग प्रथक् पुस्तक के रूप में करूँ। अतएव प्रस्तुत पुस्तक वही पुरानी लिखी हुई 'गद्य-गाथा' का कुछ बढ़ाया-घटाया रूप है।

समीक्षा-कार्य बड़ा दुस्तर और उत्तरदायित्वपूर्ण होता है। प्रस्तुत पुस्तक को पढ़ कर मुझे विश्वास है कि मेरे कुछ मित्र अकारण ही मुझसे रुष्ट हो जायँगे। बहुत सम्भव है कि कुछ अच्छे लेखकों के नाम और उनकी कृतियों की चरचा रह गयी हो। यह भी सम्भव है कि कुछ ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में, जिन्हें लोग साधारण लेखक समझते हैं, आवश्यकता से अधिक विस्तार और प्रशंसा इस पुस्तक में मिले। जो बातें छूट गयी हैं उनका समावेश अगले संस्करण में कर दिया जायगा; परन्तु अन्य सब विचारों का, जो इस पुस्तक में व्यक्त किये गये हैं, सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है। मैंने यथासाध्य उज्वल समीक्षावृत्ति और निर्मल विवेक को ही समक्ष रखा है। किसी प्रकार के राग-द्वेष की प्रेरणा से काम नहीं लिया गया है। फिर भी यदि इस पुस्तक के कुछ स्थल किसी को किसी कारण न रुचें तो उसमें अधिक

से अधिक मेरी नासमझी समझना चाहिए, किसी प्रकार का पक्षपात नहीं। मैं उन सब साहित्य-महारथियों से क्षमा-याचना करता हूँ जिनको इस पुस्तक में व्यक्त की हुई किसी भावना से दुःख पहुँचे।

इस पुस्तक को समीचीन बनाने के लिए कुछ मित्रों ने मुझे सहायता दी है। श्रीयुत शालिग्रामजी वर्मा तथा पं० गौरीशंकर त्रिवेदी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। प्रस्तुत पुस्तक में सर्वश्री राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह, स्वामी दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी, जगमोहनसिंह, तोताराम, गोविन्दनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, महाबीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, गणेशविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र, श्यामविहारी मिश्र, पदुमलाल-पन्नालाल बख्शी, रायबहादुर हीरालाल, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पद्मसिंह शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय, गणेशशङ्कर विद्यार्थी, प्रेमचन्द, जयशङ्कर 'प्रसाद', विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', माखनलाल चतुर्वेदी, राय कृष्णदास, वियोगी हरि, बद्रीनाथ भट्ट, कृष्णकान्त मालवीय, बालकृष्ण शर्मा, गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, रामदास गौड़, और महावीरप्रसाद श्रीवास्तव के चित्र हैं। इन चित्रों को प्राप्त करने में प्रकाशक ने काफ़ी परिश्रम किया है। जिन महानुभावों ने ब्लाक तथा चित्र देने की कृपा की है, प्रकाशक और लेखक उनके आभारी हैं। मैं अपने प्रिय मित्र पं० पन्नालाल त्रिपाठी के प्रति विशेष प्रकार से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। उन्होंने स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी तथा अन्य महानुभावों के चित्र भेजकर प्रकाशक को महान् सहायता पहुँचायी है।

सद्गुरुशरण अवस्थी

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

———

हिन्दी-गद्य-गाथा

लक्षण ग्रन्थकारों ने कविता को 'साहित्यिक' बनाने के लिए जिन उपादानों की सृष्टि की है वे साहित्य के प्राण नहीं हैं। 'साहित्यिकता, के विलासी साहित्य के मर्म को नहीं जानते। वे मूल के स्थान में दल और देवता के स्थान में मूर्ति की स्थापना करते हैं। कभी कभी तो 'साहित्यिकता' के बोझ में दब कर साहित्य पिस जाता है। यह बात भारतीय काव्य-विधान की ही नहीं है, वरन् पाश्चात्य देशों में भी कुछ अधिक-कम देखने में आती है। हाँ, यहाँ के लोग उसकी निस्सारता बहुत बाद में समझ पाये और पूर्णरूप से आज दिन भी 'साहित्यिकता' के असली मूल्य को आँक नहीं पाये हैं; परन्तु पश्चिम बहुत शीघ्र समझ गया। अब 'साहित्यिकता' का आदर्श ही पलट रहा है। उसकी परिभाषा बदल रही है। आज की 'साहित्यिक' कविता एक भारतवर्ष को छोड़ कर और वह भी पूर्ण अंश में नहीं, प्राचीन 'साहित्यिक' माप-दण्ड के बिलकुल प्रतिकूल है। वह गद्य के निकट पहुँच गयी है; नीरसता, कवित्वहीनता के कारण नहीं, वरन् उन सब प्रतिबन्धों को उखाड़ फेंकने के कारण, जो 'साहित्यिकता' के नाम पर गद्य और पद्य के बीच में खड़े थे। यह एक बार समझ लेना होगा कि अच्छे साहित्य के लिए, चाहे वह गद्य हो अथवा पद्य, पूर्ण मानसिक विकास की आवश्यकता है। गद्य-पद्य का रूप एक हो जाय, इसके लिए उतना ही विलम्ब है जितना 'मनुष्य' को पूर्ण-मनुष्य हो जाने में देरी है।

साहित्य 'साहित्यिक' नहीं होता

गद्य और पद्य का ऐक्य मानव समाज की उन्नति का अन्तिम उत्कर्ष है। सभ्यता के चरम विकास में मानवता का जो चरम स्वरूप हमारे समक्ष आवेगा वह न गद्य में लिखेगा और न पद्य में। उसका बोलना और लिखना गद्य-पद्य से परे और गद्य-पद्य का समन्वय होगा। उसमें मर्म का चुटीलापन होगा, उसमें राग का वेग होगा, उसमें मनोवृत्तियों का विस्फोट होगा; परन्तु उसमें साथ ही साथ कथन का सुलझाव होगा, चिन्तन का नया खण्ड होगा, प्रतिपादन-प्रणाणी में नया तर्क होगा। आज हम जिसे हृदय के उफान का बेसिलसिलापन समझते हैं, उस समय उसमें हम दर्शन की तार्किकता और प्रतिपादन-प्रणाली का क्रम देखेंगे। आज हमारा हृदय साधु की जटा की भाँति चिपका हुआ है। इसीलिए उसकी प्रेरणा में बिलगाव नहीं। अतएव रागात्मक चित्र उलझे हुए और अतार्किक निकलते हैं। मस्तिष्क की सहायता से चिन्तन के प्रकाश में गुम्फित होने के पूर्व उन्हें सुलझाना पड़ता है। तब यह बात न रहेगी। बुद्धि का अन्तिम चिन्तन ही हृदय का कोष होगा। वाह्य पदार्थों के सम्पर्क से हृदय में जो कसमसाहट उत्पन्न होगी, उसमें बुद्धि का चिन्तन-कोष ही फूट निकलेगा और उसी की अभिव्यक्ति हम काव्य में देखेंगे। काव्य में और दर्शन में विषय को छोड़कर कोई भेद न रह जायगा। विज्ञान का और कला का स्थूल भेद नष्ट हो जायगा। रहस्यवाद का स्थान व्यक्तवाद ले लेगा और छायावाद को बिम्बवाद अपदस्थ करेगा। प्रज्ञात्मक और रागात्मक प्रणाली का भेद मिट जायगा। छन्दों के प्रतिबन्ध को अनैसर्गिक समझ कर छोड़ दिया जायगा, और अभिव्यञ्जन प्रणाली सङ्गीत की सूक्ष्म गतियों के बल पर स्वतः निश्चित होगी।

गद्य पद्य का ऐक्य

अभी युगों तक यह गद्य-पद्य का भेद चलता रहेगा। इस विभेद को मिटा देने के प्रयास तो आज भी परिलक्षित हो रहे हैं, परन्तु उस

स्वरूप का सङ्केत, जिसकी ऊपर चर्चा की गयी है, अभीं नहीं मिलता। पशु-स्वरूप में तो जीव राग-मय होता ही है, परन्तु विकास के सोपान में 'मनुष्य' की परिस्थिति तक पहुँच कर, प्राणी चिन्तना की चिनगारी को जितना ही फूँक-फूँक कर उद्दीप्त करता है, उतना ही अधिक उन्नत होता जाता है। यहाँ तक कि उसे अपनी भावना-शक्ति को नियन्त्रित, अनुशासित और परिमार्जित करते करते चिन्तन-शक्ति की सजगता के अधीन करना पड़ता है। होते होते चिन्तना-शक्ति ही केवल भावनिधि की वस्तु रह जाती है और मनुष्य अपने पूर्ण स्वरूप में आकर टिकता है।

साहित्य में पद्य की प्राचीनता

हम देखते हैं कि विश्व में जहाँ कहीं भी साहित्य संरचित है, सबसे पहले पद्य के ही स्वरूप दिखायी देते हैं गद्य के नहीं। यह क्यों? यह इसलिए नहीं कि मनुष्य पर सङ्गीत का प्रभाव बहुत पुराना है और सङ्गीत का अनुशासन मानना सभ्यता का चिह्न है। इसका कारण यही है कि प्रत्येक देश के साहित्य के आदि-युग में मनुष्य गद्य-प्रधान युग की अपेक्षा कम सभ्य थे। भावमय, रागमय, भड़भड़मय, परिस्थिति में पले हुए व्यक्ति अनिवार्य रूप से पद्य-मय होते होंगे। सम्भव है कि उन आदिम कृतियों में भी चिन्तना की सामग्री हो और इससे उनके विकास और उनकी सभ्यता का ऊँचा मोल आँका जा सके; परन्तु एक बात निश्चय ही थी कि आकार-विधान का उनका अभिव्यञ्जन, पद्य और कथित सङ्गीत के रूप में उनकी चिन्तना की उन्नति की उलटी गङ्गा बहाता था। वर्ष दो वर्ष के बच्चों के समक्ष माता, जो मन में आता है गाती है; इधर-उधर के बाजे टन-टन बजाती है और बच्चों को यह सब बहुत अच्छा लगता है। परन्तु बच्चे की सङ्गीत-प्रियता का न तो यह अर्थ है कि विश्व में सङ्गीत-कला का सार्वभौमिक प्रभाव है और न यह अर्थ है कि बच्चे की समझ अथवा सभ्यता इतनी सजग होती है कि वह माता

के गानों का कला की दृष्टि से आनन्द लेता है। इसका केवल यह अर्थ है कि पशु-स्वरूप के अव्यक्त बेसिलसिले के नाद से प्राणी के भावात्मक स्वरूप का ऐसा सान्निध्य है कि बचपन में, जब तक उसमें चिन्तना की सजगता उदय नहीं होती, तब तक वह असभ्यों की भाँति अथवा पशुओं की तरह, अपने को उससे बहला लेता है। चिन्तना के उदय होने पर भी हम जो उसी प्रकार का लगाव क़ायम रखते हैं उसका भी कारण पुरातन असभ्य संस्कार ही है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि कवि अथवा कविता-प्रेमी, सङ्गीताचार्य्य अथवा सङ्गीत-रसिक असभ्य अथवा अर्ध-सभ्य हैं। जिस काव्य अथवा सङ्गीत के सिद्धान्तों को स्थिर करने में चिन्तना को शताब्दियाँ लगी हों, जिनके मनन, अनुशीलन और अध्ययन में चिन्तना का विकास और भावना का परिष्कार होता हो, वे कलाएँ असभ्यता की प्रतिकृति नहीं हो सकतीं। जब हृदय की स्फूर्ति में बुद्धि के ही उत्कर्ष का स्वरूप है तो फिर असभ्यता की बात ही क्या है। स्मरण-शक्ति की सहायता के लिए कहते हैं, यहाँ के विद्वानों ने ज्योतिष, तर्क, वैद्यक आदि सभी विज्ञान के ग्रन्थों को पद्यमय स्वरूप दे डाला। इस स्मरण-शक्ति के मूल में पशुवृत्ति है। वह स्मरण-शक्ति जो नाद का सहारा लेकर ही टिक सकती है—असंस्कृत है। छन्दों के मूर्त आकार से हटकर अमूर्त पर टिकने का अभ्यास करना शिक्षित मेधा का उन्नत प्रयास है।

संसार के साहित्य में पद्य क्यों सर्व-प्रथम मिलता है—इसके और भी कारण हैं। ९९ प्रतिशत भाव-प्रधान लोगों के लिए गद्य का लिखना नीरस, अनाकर्षक और सारहीन था। यदि उनसे बन पड़ता, तो गद्य में बोलते भी नहीं। उस समय की बोलियों के प्रमाण कम मिलते हैं। बहुत सम्भव है कि थोड़ा टेढ़ापन उनमें भी हो। बोली में भी पद्य-प्रयोग के लोग कैसे उत्सुक थे, इसके कुछ उदाहरण नाटकों में मिल सकते हैं। बोलने के स्थान में पात्र गाते हैं। इस प्रवृत्ति की

भरमार संस्कृत रूपकों में देखने में आती है। कुछ नाटक तो ऐसे हैं जिनमें गद्य भाग से पद्य भाग कहीं अधिक है, और गद्य में सरलता से लिखे जानेवाले इतिवृत्तात्मक स्थलों को भी तुकबन्दियों में बाँध दिया गया है। आज-कल भी पिछलगों की भाँति यह दोष नाटकों में वर्तमान रहता है।

प्राचीन काल में स्मरण-शक्ति बड़ी प्रबल थी, अतएव शास्त्रों का बहुत कुछ स्वरूप लिपि-बद्ध कभी नहीं हुआ। गद्य कैसे दिखायी देता। शासन-सम्बन्धिनी आज्ञाओं का उल्लेख कहीं-कहीं थोड़ी-सी पंक्तियों में—उदाहरण के रूप में दिखायी देता है। आने-जाने की सुविधाएँ न थीं। रेल, तार और डाक-घर न थे। पत्रों को कैसे भेजा जाता? छापेखानों की अनुपस्थिति में पुस्तकों की प्रतिलिपि करना उतना ही दुस्साध्य था जितना गौरीशङ्कर पर चढ़ना। सभ्यता का जो कुछ विकास हुआ था वह भावना के कटघरे में बन्द था, और छन्दों के रूप में ही निर्मित हुआ था।

ये सब भाषाओं के एक से प्रतिबन्ध थे, परन्तु प्रत्येक भाषा के लिये अपने निजी कारण भी हैं। हिन्दी भाषा का विकास अभी तक

हिन्दी भाषा तथा हिन्दी साहित्य की प्राचीनता

दशवीं शताब्दी से माना गया है। आज तक के प्रामाणिक इतिहासकारों का यही मत है। परन्तु पुरातत्त्व के अद्वितीय विद्वान् त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन ने अपनी नवीन शोध द्वारा इस तिथि को बहुत पीछे कर दिया है। मिश्रबन्धुओं ने 'पुष्य' नामक कवि का उल्लेख करके हिन्दी की जन्म-तिथि आठवीं शताब्दी मानी थी; परन्तु 'पुष्य' और उसकी कृतियों का कुछ पता न लगने के कारण मिश्रबन्धुओं की हिन्दी की जन्म-तिथि प्रामाणिक न बन सकी। राहुलजी ने कई 'सिद्ध' कवियों की खोज निकाला है जो सात सौ पचास से लेकर बारह सौ तक के बीच में हुए हैं। उनकी कृतियों का उल्लेख करते हुए भाषा की दृष्टि से राहुल जी ने उनकी

समीक्षा भी की है। इन 'सिद्ध' लेखकों ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार अपनी बोल-चाल की भाषा में किया था। अपने को विद्वान् समझने वाले अन्य सिद्ध किसी न किसी मुर्दा भाषा से चिपट कर अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग करते रहे। न उनके सिद्धान्तों का ही प्रचार बढ़ा और न उनका कोई स्थान साहित्य-क्षेत्र ही में रह गया। हिन्दी में लिखने वाले सिद्ध कवियों ने गद्य का प्रयोग सम्भाषणों के लिए, वार्तालाप के लिए और समझने-समझाने के लिए ही सीमित रखा, अतएव उसके कोई उदाहरण नहीं मिलते। उस युग के मानसिक विकास को देखते हुए पद्य का प्रभाव ही अक्षुण्ण था, अतएव ये सब सिद्ध, कवि भी थे।

इनकी कविताओं में कहीं कहीं पर कबीर की रसात्मकता का चुटीलापन भी है और कहीं कहीं पर गौतम बुद्ध के सिद्धान्तोंका रूखा पद्यमय वर्णन भी है। इन कवियों का आलोक हिन्दी कविता के क्रम-विकास पर एक नया प्रकाश डालता है। अभी तक कबीरदास की कविता की मौलिकता पर जो नाना प्रकार के विचार व्यक्त किये जाते हैं वे सब इन 'सिद्धों' के पढ़ने के पश्चात् ऊट-पटाँग जँचते हैं। कबीर की अध्यात्म-प्रियता, उनका योग-वर्णन; उनका निर्गुण-निरूपण, उनका रहस्यवाद, उनका भारतीय धर्मग्रन्थों पर आक्रमण, उनकी वाद-विवाद-प्रियता इत्यादि विषयों पर ख़ूब लिखा-पढ़ी होती है। युगधर्म का प्रभाव भी उनमें बहुत ढूँढा जाता है। उनका कबीर-पन्थ एक मौलिक सम्प्रदाय के रूप में सामने रखा जाता है।

बात वास्तव में यह है कि कबीर की प्रतिभा उतनी अनाश्रित न थी जितनी समझी जाती है। कबीर उस शृङ्खला की एक मोटी कड़ी है जो उनके पूर्ववर्ती 'सिद्ध' सम्प्रदाय को उनके परवर्ती 'नाथ' सम्प्रदाय से जोड़ती है। कबीर उस महाप्रवाह के शक्तिसम्पन्न जलचक्र हैं जिसकी अथश्री सिद्ध सम्प्रदाय वाले और इतिश्री नाथ सम्प्रदायवाले थे। मालूम ऐसा होता है कि साधुओं का एक वर्ग गौतमबुद्ध के समय से

ही सिद्धों के रूप में भारतीय भावना को प्रवाहित करता आया है। कबीर ने इस सम्प्रदाय को अपने व्यक्तित्व के आलोक में और सङ्गठित किया। यह क्रम घटता-बढ़ता परिवर्तित होता नाथों के समय तक चला आया। बहुत से प्रतिभा सम्पन्न साधु समय समय पर उत्पन्न होकर अपनी निजी स्फूर्ति और प्रेरणा से इसमें नये नये परिवर्तन करते आये। वर्तमान युग का राधास्वामी सम्प्रदाय इसी साधु सम्प्रदाय का सब से अर्वाचीन स्वरूप है।

राहुल जी ने जिन सिद्ध कवियों का उल्लेख करके हिन्दी की उत्पत्ति-तिथि को आगे बढ़ाया है उनके नाम ये हैं :—

१ सरहपा २ शबरपा ३ आर्यदेव या कर्णरीपा ४ लूहिपाद ५ भूसुकु ६ वीणापा ७ निरूपा ८ दारिकपा ९ डोम्भिपा १० कम्बलपाद ११ जालंधरपाद १२ कुक्कुरिपा १३ गुण्डरीपाद १४ मनिया १५ कण्हपा १६ ताँतिपा १७ महीपा १८ भादेपा १९ कङ्कणपाद २० जयानन्त २१ तिलोपा २२ नाड (नारो) पा २३ शान्तिया—इन सबका पूर्ण परिचय और इनकी कृतियों की समीक्षा राहुल जी ने की है। हमारा यहाँ केवल गद्य से ही सम्बन्ध है अतएव यह प्रसङ्ग अनावश्यक समझ कर यहीं समाप्त किया जाता है। राहुल जी का मत अब हिन्दी साहित्य के इतिहास में हेरफेर अवश्य करेगा। पुरातत्व के दूसरे विद्वान श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने राहुल जी की शोध की प्रशंसा करते हुए स्वीकार किया है। हमें इस विषय की अधिक चर्चा यहाँ नहीं करनी है। भारतवर्ष की भाषाओं की विकास-धारा से कितनी शाखाएँ फूटीं, कब कब फूटीं और इनका क्या क्या नाम पड़ा इसका उत्तर हमें हिन्दी भाषा के इतिहास और भाषा-विज्ञान की ओर ले जायगा, परन्तु जिस शाखा-विशेष को हिन्दी नाम दिया गया उसके स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा का पहला शङ्खनाद पद्य के रूप में था, गद्य में नहीं। बाद में कितने ही सुन्दर काव्य रचे गये, परन्तु सब पद्य में। यह क्रम १७ वीं शताब्दी तक जारी रहा।

यह बात निर्विवाद है कि किसी राष्ट्र अथवा युग के साहित्य की आत्मा से परिचय प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु प्रायः सदैव उसके काव्य के उपवन में पदार्पण करते चले आये हैं। कविता का अञ्चल पकड़कर वे साहित्य की महत्ता से साक्षात्कार करते रहे हैं और ज्ञानकोष के पद्यात्मक अंश से प्रभावित होकर उन्होंने साहित्य के मूल्य को आँका है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जनसाधारण में प्रचलित विचार-विनिमय के साधन, अर्थात् गद्य का, साहित्य के सृजनोद्योग में कोई अंश ही नहीं रहता। अपने नित्य-प्रति के सम्भाषणों में जिस कथन प्रणाली को आधार बनाकर हम अपने हृद्गतभाव, शोक, हर्ष, रोष आदि प्रकट करते हैं; जिसे सभी आबाल-वृद्ध, स्त्री, पुरुष, समान रूप से व्यवहार में लाते हैं, उसकी उपादेयता कविता अथवा पद्य के सम्मुख नगण्य नहीं है। आधुनिक समाज में, जब कि शिक्षा, संस्कृत और साहित्य का विकसित और प्रौढ़ स्वरूप हमारे सम्मुख है, हम देखते हैं कि पद्य ही साहित्य के शृङ्गार का एक मात्र साधन नहीं है। इस वैज्ञानिक युग में ऐहिकता के प्रति ज्ञानार्जन अनिवार्य-सा हो रहा है। ज्ञान के विविध स्वरूप और विचित्र क्षेत्रों की ऊहापोह अब हमारा अभीष्ट रहता है। नित्यप्रति जनता में लेख्य विषयों की गणना-वृद्धि होती जाती है। ऐसी स्थिति में साहित्य-सरोवर में जल-विहार करने के हेतु हम पद्य-रूपी एक ही डांड़ के सहारे अपनी जीवन-नौका को लेकर ध्येय तक नहीं पहुँच सकते।

साहित्य में गद्य का महत्व

हम अपने साधारण क्रियात्मक जीवन में, अपने आलाप-सम्भाषण और वाद-विवाद में, संसार की ऐहिकता से लिप्त रहते हैं। स्वयं कवितामय होने का अवकाश और सौभाग्य कभी कभी मिलता है। यही कारण है कि हमारी गति और प्रणाली अधिकांशतः विचारात्मक अर्थात् बुद्धि, अनुभव और दुनियादारी से सम्बन्धित है। जीवन के सङ्घर्ष में कविता उपेक्षित है; इसमें कविता का बहुत कम अंश है।

गद्य हमारे लिए बागडोर है, इसका महत्व सर्वतोमुखी है।

किसी भी जाति के बौधिक विकास की कसौटी उसकी वैज्ञानिक उन्नति होती है। विभिन्न कलाओं का विकास, उद्योग-धन्धों की प्रचुरता, सामाजिक उन्नति आदि से ही राष्ट्र शिक्षित कहा जाता है। अतएव हमारे मानसिक स्फुरण में गद्य की महत्ता और उपादेयता सर्वमान्य है। इसके अतिरिक्त स्वतः साहित्य के भी अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ पद्य की पहुँच नहीं; और यदि ऐसे स्थलों में पद्य अपना पैर रोपता है तो यह उसकी हिमाक़त और लेखकों की उद्दण्डता ही समझना चाहिए। पदार्थ-विज्ञान, समाज-विज्ञान, चिकित्सा, क़ानून, अर्थ, राजनीति आदि तथा अन्यान्य उपयोगी कलाओं का विवेचन यदि पद्यबद्ध सम्मुख आये तो हास्यास्पद और अनुचित होगा। इस सम्बन्ध में हमें संस्कृत लेखकों की झक का स्मरण हो आता है जिन्होंने ज्योतिष, तर्क, मीमांसा आदि को पद्य-बद्ध किया था। उनका यह प्रयास अपने समय की समाज-गत रुचि को देखते हुए भले ही युक्तिसङ्गत कहा जा सके; किन्तु यह स्वाभाविक है कि केवल पद्य में बाँधकर ही ज्योतिष, तर्क, धर्म्म-शास्त्र आदि का प्रचार और प्रसार जनसाधारण तक नहीं किया जा सकता। एक शिक्षित राष्ट्र का निर्माण गद्य के बल पर ही होना स्पष्ट है। गद्य ही मानव-जीवन की समीक्षा-प्रणाली है, और यही वास्तविक संसार के चित्रण की उपयुक्त तूलिका है।

साहित्य में गद्य के समुचित स्थान का निर्देश करते समय स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब गद्य ही राष्ट्र की शिक्षोन्नति का महत्वपूर्ण साधन है तो प्रत्येक देश के साहित्य में पद्य का प्रचार अपेक्षाकृत पूर्व-गामी क्यों देखा जाता है? इस सम्बन्ध में हम ऊपर सङ्केत कर चुके हैं। इस तथ्य की ऊहापोह बहुत कुछ ऐतिहासिक घटनाक्रम पर आधारित है। साथ ही इसके कुछ प्राकृतिक

पद्य के पूर्व-प्रवेश के कुछ और कारण

कारण भी हैं। समाज-शास्त्र और सभ्यता का इतिहास इस बात का द्योतक है कि आदिकाल में, जब मनुष्य ने कोई उल्लेखनीय सामाजिक दृढ़ता न अङ्गीकार की थी, हमारी आवश्यकताएँ न्यून थीं। जीवन एक सङ्घर्ष न था और सन्तोष सहज-प्राप्त था। तत्वचिन्तन के स्थान पर आत्मगत-भावोद्वेगों के नैसर्गिक अभिव्यञ्जन में ही सुख की उपलब्धि थी, तथा ज्ञान का भण्डार परिमित था। साहित्य का प्राथमिक स्वरूप ऐसी स्थिति में व्यञ्जनात्मक हुआ। उसमें विश्लेषण अथवा आलोचना का कोई अंश न होने से भाषा का आरम्भ अधिकतर कविता से होता है।

गद्य के आविर्भूत होने में विलम्ब होने का कारण उस समय की देश की शासन-व्यवस्था अथवा अल्पावस्था से उत्पन्न मनुष्य के जीवन का अस्त-व्यस्त और आपदाकुल होना भी है। आक्रमण, युद्ध और पलायन नित्य की घटनाएँ थीं। किसी विषय के गूढ़ चिन्तन का किसी को अवकाश न था तथा शान्त वातावरण में कुछ दिनों रह कर किसी विधेयात्मक साहित्य का प्रणयन करना एक दुस्तर कार्य था। धर्म अथवा युद्ध ही ऐसे विषय थे जिनसे समाज की रुचि आकृष्ट होती थी। इस कारण भी धर्म-प्राण संस्कृत-साहित्य का सम्मान पद्य की ओर ही रहा। समाज का ज्ञान-कोष बहुविषयक न था और न बहुत गहन ही। उस समय एक प्रथा-सी थी, वर्णित विषय को संक्षेप में कहने की और ऐसे ढङ्ग से कहने की कि वह जनरव बन जाय। विषय के पद्यात्मक अंश को स्मरण रखना गद्य की अपेक्षा कुछ सरल होता भी है, तथा आशय को संक्षेप में स्पष्ट कर देने की पद्य में कुछ अद्भुत क्षमता होती है। सम्भवतः पद्य के प्रसार का यह भी एक प्रयोजन रहा है।

हमारा सामाजिक जीवन जब तक पार्थिवतापूर्ण नहीं होने पाता वह कविता का कानन रहता है। सभ्यता के मण्डप के नीचे जब तक संसार नहीं आया था, उसकी मानसिक अवस्था दुनियादारी से दूर

थी। तब हमारी व्यावहारिक बुद्धि में न अधिक वेग आया था, न विशेष प्रबलता ही दिखायी देती थी। सरल जीवन और अमल-धवल मानस के मध्य में वे दिवस काव्योचित वातावरण के विधायक थे। वायु में अन्तर की स्वर-लहरी निनादित रहती थी। अतः उस समय तक गद्य की आवश्यकता अथवा उपयोगिता कोसों दूर थी। इसका कुछ ऐसा प्रभाव हुआ कि पद्य रचना की एक दीर्घकाल-व्यापी बयार-सी वह चली। जब संस्कृत के आधार पर अपभ्रंश भाषाओं में साहित्य का सृजन होने लगा तब भी पद्य ही विषय-प्रकाशन का प्रचलित साधन था।

\+ + + + +

संस्कृत का साहित्य-कोष, यद्यपि पर्याप्त मात्रा में गद्यांश था, किन्तु संस्कृत प्रचलित् व्यावहारिक बातचीत का माध्यम न थी। लोगों में इसे पढ़ने का धैर्य न था। वे इससे उदासीन थे। अपनी प्रचलित भाषा में पाठ्य-पुस्तकों की पद्यात्मक शैली उन्हें ग्राह्य थी, किन्तु संस्कृत विद्वानों के गद्य से वे ऊबते थे। वास्तव में बाण और दण्डी प्रभृत संस्कृत के वाग्मीवर जैसा गद्य लिखते थे वह था भी अत्यधिक अलङ्कारिक और आडम्बर पूर्ण। इनके गद्य की भाषा पद्य का जामा ओढ़े कविता-विषयक शुष्क उपादानों से अत्यधिक आवृत है। गद्य का यह वेश जन-रुचि को पसन्द न आया और इसका कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि हिन्दी लेखकों ने हिन्दी गद्य की ओर ध्यान ही नहीं दिया। लोग रीति-काव्य लिखना ऐसे गद्य से अपेक्षाकृत सरल और सुबोध समझ कर पद्य में ही अपनी उक्तियों का चमत्कार दिखाते रहे। संस्कृत गद्य से अरुचि होने के कारण हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में भी एक ऐसी धारा का उद्गमन हुआ जिसमें अति साधारण विषय-वर्णन को पद्य के ढाँचे में ढाल कर कविता का रूप दिया गया था।

वर्तमान प्रचलित गद्य की भाषा (खड़ी बोली) का उद्गमस्थल

अथवा आविर्भाव-काल का ठीक ठीक निर्देश करना कठिन है।

हिन्दी-गद्य का आविर्भाव

हिन्दी गद्य का आरम्भ विक्रमीय संवत् १४०७ के लगभग माना गया है। यह हिन्दी गद्य वस्तुतः व्रज-गद्य है। गोरखनाथ ने अपना 'सिष्ट-प्रमाण' इस समय गद्य में लिखा। इस समय के गद्य-लेखकों में गोरखनाथ गोकुलनाथ, गङ्गभट्ट, नाभादास, अमरसिंह कायस्थ आदि की रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं। काशी के इतिहास लेखकों ने जटमल का नाम भी इन्हीं लेखकों में गिनाया है। वास्तव में जटमल ने कोई गद्य पुस्तक नहीं लिखी। उसकी पुस्तक पद्य में है। उस पुस्तक का गद्यानुवाद फ़ोर्ट विलियम के अधिकारियों ने कराया था। इस अनुवाद को गद्य में देखकर विज्ञ लेखकों को यह भ्रम हो गया कि उक्त पुस्तक गद्य में है। ऊपर के गद्य-लेखकों की भाषा तथा शैली अत्यन्त अनगढ़, अनियंत्रित तथा शिथिल है। वास्तव में इस युग की भाषा के रूप निरूपण की जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध हो सकी है, वह पण्डिताऊ पोथियों, वैष्णव उपदेशों तथा राजकीय पत्र-व्यवहार में ही देख पड़ी है। यह व्रज-गद्य स्थायी न बन सका। टीकाकारों के हाथ में पड़कर यह अकाल में ही नष्ट हो गया। सत्रहवीं विक्रमीय तक इस व्रज-गद्य का पूर्ण ह्रास हो गया।

गोरखनाथ की एक पुस्तक से कुछ अंश यहाँ उद्धृत है "श्रीगुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्द-स्वरूप हैं शरीर जिन्ह के नित्य गायें तें चेतन्नि अरु आनन्दभव होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछन्दरनाथ को दण्डवत करत हौं। हैं कैसे वे मछन्दरनाथ? आत्मजोति निश्चल हैं अन्तहकरन जिनके अरु मूलद्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानैं।......स्वामी तुम्ह तो सतगुरु, अम्ह तो सिप। सबद एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करब रोस।"

गोकुलनाथ कृत व्रजभाषा के दो गद्य ग्रन्थ—"चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता" तथा "दो सौ वैष्णवों की वार्त्ता" का उल्लेख भी यहाँ

प्रासंगिक है। इन कथाओं में बोलचाल की ब्रजभाषा देख पड़ती है; यथा:—

"सो श्री नन्दग्राम में रहतो हतो। सो खण्डन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खण्डन करतो; ऐसो वाको नेम हतो। याही ते सब लोगन ने वाको नाम खण्डन पार्‍यो हतो।"

उपरोक्त अंश की शैली प्रचुर मात्रा में अव्यवस्थित और सचिक्कण ब्रज है। किन्तु इसके उपरान्त गद्य-लेखन का यथेष्ट प्रचार न होने के कारण, ब्रज-गद्य पनप न पाया। काव्यों की टीकाओं का गद्य इतना लचर भ्रष्ट और अशक्त दिखायी दिया कि उसकी लड़खड़ाहट और अपाङ्गता ने मूल का भी मूलोच्छेदन कर डाला। रामचन्द्रिका की टीका की दयनीय भाषा का यह उद्धरण है:—

"राघव शर लाघव गति छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़िके गयो ॥"

टीका:—"सबल कहें अनेक रङ्ग मिश्रित है, अंसु कहें किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं तिन सहित मानों कलिन्दगिरि-शृङ्ग ते हंस-समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाति विषै एक वचन है हंसन के सदृश स्वेत छत्र है और सूर्य्यन के सदृश अनेक रङ्ग नगजटित मुकुट हैं।"

उपरोक्त उद्धरणों से यह प्रकट है कि इस समय तक साहित्य में गद्य को किञ्चित प्रौढ़ता नहीं प्राप्त हुई थी। अत: आगे चलकर गद्य में स्थूल ब्रज के स्थान पर खड़ी बोली सुगमता से ग्रहण कर ली गयी। ब्रजभाषा वास्तव में पद्य की भाषा समझी जाती थी और उसके प्रान्तीय प्रयोग सुबोध न थे। मुसलमानों को उसके समझने में कठिनता होती थी। उसकी अनेकरूपता, उसके शब्दों तथा धातुओं के मनमाने अनेक प्रकार के प्रयोग, उसको दुरूह बनाये हुए थे। कविता के लिए उसमें जो जो गुण समझे जाते थे गद्य के प्रयोग के लिए वही दुर्गुण सिद्ध हुए। अपने असाधारण ढलाव और अद्वितीय लोच के कारण ब्रज-गद्य में ग्रहण न की जा सकी।

अथवा आविर्भाव-काल का ठीक ठीक निर्देश करना कठिन है।

हिन्दी-गद्य का आविर्भाव

हिन्दी गद्य का आरम्भ विक्रमीय संवत् १४०७ के लगभग माना गया है। यह हिन्दी गद्य वस्तुतः व्रज-गद्य है। गोरखनाथ ने अपना 'सिष्ट-प्रमाण' इस समय गद्य में लिखा। इस समय के गद्य-लेखकों में गोरखनाथ गोकुलनाथ, गङ्गभट्ट, नाभादास, अमरसिंह कायस्थ आदि की रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं। काशी के इतिहास लेखकों ने जटमल का नाम भी इन्हीं लेखकों में गिनाया है। वास्तव में जटमल ने कोई गद्य पुस्तक नहीं लिखी। उसकी पुस्तक पद्य में है। उस पुस्तक का गद्यानुवाद फ़ोर्ट विलियम के अधिकारियों ने कराया था। इस अनुवाद को गद्य में देखकर विज्ञ लेखकों को यह भ्रम हो गया कि उक्त पुस्तक गद्य में है। ऊपर के गद्य-लेखकों की भाषा तथा शैली अत्यन्त अनगढ़, अनियंत्रित तथा शिथिल है। वास्तव में इस युग की भाषा के रूप निरूपण की जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध हो सकी है, वह पण्डिताऊ पोथियों, वैष्णव उपदेशों तथा राजकीय पत्र-व्यवहार में ही देख पड़ी है। यह व्रज-गद्य स्थायी न बन सका। टीकाकारों के हाथ में पड़कर यह अकाल में ही नष्ट हो गया। सत्रहवीं विक्रमीय तक इस व्रज-गद्य का पूर्ण ह्रास हो गया।

गोरखनाथ की एक पुस्तक से कुछ अंश यहाँ उद्धृत है "श्रीगुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्द-स्वरूप हैं शरीर जिन्ह के नित्य गायें तें चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सों मछन्दरनाथ को दण्डवत करत हौं। हैं कैसे वे मछन्दरनाथ ? आत्मजोति निश्चल है अन्तहकरन जिनके अरु मूलद्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानै।......स्वामी तुम्ह तो सतगुरु, अम्ह तो सिप। सवद एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करब रोस।"

गोकुलनाथ कृत व्रजभाषा के दो गद्य ग्रन्थ—"चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता" तथा "दो सो वैष्णवों की वार्त्ता" का उल्लेख भी यहाँ

प्रासंगिक है। इन कथाओं में बोलचाल की ब्रजभाषा देख पड़ती है; यथा:—

"सो श्री नन्दग्राम में रहतो हतो। सो खण्डन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खण्डन करतो; ऐसो वाको नेम हतो। याही ते सब लोगन ने वाको नाम खण्डन पार्‍यो हतो।"

उपरोक्त अंश की शैली प्रचुर मात्रा में अव्यवस्थित और सचिक्कण ब्रज है। किन्तु इसके उपरान्त गद्य-लेखन का यथेष्ट प्रचार न होने के कारण, ब्रज-गद्य पनप न पाया। काव्यों की टीकाओं का गद्य इतना लचर भ्रष्ट और अशक्त दिखायी दिया कि उसकी लड़खड़ाहट और अपाङ्गता ने मूल का भी मूलोच्छेदन कर डाला। रामचन्द्रिका की टीका की दयनीय भाषा का यह उद्धरण है:—

"राघव शर लाघव गति छत्र मुकुट यो हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़िके गयो॥"

टीका:—"सबल कहें अनेक रङ्ग मिश्रित है, अंसु कहें किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं तिन सहित मानों कलिन्दगिरि-शृङ्ग ते हंस-समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाति विषै एक वचन है हंसन के सदृश स्वेत छत्र है और सूर्य्यन के सदृश अनेक रङ्ग नगजटित मुकुट हैं।"

उपरोक्त उद्धरणों से यह प्रकट है कि इस समय तक साहित्य में गद्य को किञ्चित प्रौढ़ता नहीं प्राप्त हुई थी। अतः आगे चलकर गद्य में स्थूल ब्रज के स्थान पर खड़ी बोली सुगमता से ग्रहण कर ली गयी। ब्रजभाषा वास्तव में पद्य की भाषा समझी जाती थी और उसके प्रान्तीय प्रयोग सुबोध न थे। मुसलमानों को उसके समझने में कठिनता होती थी। उसकी अनेकरूपता, उसके शब्दों तथा धातुओं के मनमाने अनेक प्रकार के प्रयोग, उसको दुरूह बनाये हुए थे। कविता के लिए उसमें जो जो गुण समझे जाते थे गद्य के प्रयोग के लिए वही दुर्गुण सिद्ध हुए। अपने असाधारण ढलाव और अद्वितीय लोच के कारण ब्रज-गद्य में ग्रहण न की जा सकी।

खड़ी बोली अपने आदि रूप में केवल बोलचालमें व्यवहृत होती थी। तत्कालीन दिल्ली और मेरठ तथा उसके समीप की प्रचलित भाषा के नमूने खड़ी बोली का प्रामाणिक निर्माण करते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि वर्तमान हिन्दी (खड़ी-बोली) का प्रारम्भिक स्थल मुग़ल कालीन दिल्ली का समीपवर्ती प्रान्त था। संयोग पाकर खड़ी बोली पहेलियों, मुकरियों और ग्राम्य-गीतों में आयी। इस समय संस्कृत का गौरव बहुत कुछ लुप्त हो चुका था, और मुस्लिम-संस्कृति के अणु तथा उनकी भाषा का रङ्ग हमारी बोली पर अधिकाधिक चढ़ रहा था। वास्तव में उस समय की व्यवहृत भाषा का "हिन्दी" नाम मुसलमानों द्वारा ही दिया हुआ है। सर्व प्रथम ख़ुसरो ने खड़ी बोली में पहेलियाँ गूँथ कर हिन्दी को साहित्य में बरता। पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर ने भी इसे अपनी कविता में स्थान दिया और उसकी व्यञ्जना-शक्ति बढ़ाई। किन्तु अभी तक इस भाषा में गद्य का निर्माण नहीं के बराबर हुआ था। इस काल में प्रौढ़ गद्य का सृजन न हो सकने का कारण यह भी था कि इस समय तक किसी देश-व्यापी आन्दोलन की चर्चा न चली थी। न समाज में उपदेश और वाद-विवाद का ही प्रचार दिखायी देता था। खड़ी बोली में अभी तक भाव-प्रकाशन का यथेष्ट बल भी न आया था। वास्तव में मनोविनोद ही साहित्योन्नति के समारम्भ का हेतु बना। खड़ी बोली का आरम्भ कहानी कथाओं द्वारा ही देखा गया है।

बहुत शीघ्र ही खड़ी बोली के क्षेत्र का विस्तार होने लगा। इसका प्रसार उत्तर-भारत तक ही सीमित न रहा, वरन् बङ्गाल, बिहार और दक्खिन में भी इसने द्रुतवेग से प्रवेश पाया। इसके प्रचार और विस्तार में देश की ऐतिहासिक घटनाओं ने असाधारण योग दिया। दिल्ली की अवनति, मरहठों के उत्कर्ष और फिर अङ्गरेजों के आगमन से इसके विकास के उपादान सङ्ग्रहीत होते गये।

मुसलमानों की राजकीय सत्ता के छिन्न होते ही उत्तर और दक्षिण दोनों ही ओर से आक्रमण होने लगे और दिल्ली का शासन डगमगाने लगा। अहमदशाह दुर्रानी और मरहठों के आघातों से बचने के लिए दिल्ली और आगरा का वैभव खिसक कर बङ्गाल और बिहार में जा टिका। इन मुसलमानों के साथ खड़ी बोली बहुत शीघ्र सुदूर पूर्व तक व्याप्त हो गयी। इन्हीं दिनों अङ्गरेज़ों की भी बङ्गाल में प्रभुता और प्रधानता बढ़ रही थी। भारत और भारतीयों के जीवन में अङ्गरेज़ों ने ज्यों ज्यों अपने अधिकारों का क्षेत्र-विस्तृत किया, एक वैज्ञानिक युगान्तर घटित होता गया। एक ओर वाणिज्य और व्यापार का विकास दृष्टिगत होता था; दूसरी ओर आवागमन के विभिन्न नवीन साधनों की उत्पत्ति होती जाती थी। मुद्रण-कला का प्रचार सम्यक रूप से हो ही चला था, अतः समाज में शिक्षित समुदाय की वृद्धि हुई और गद्य-साहित्य की खपत होना अधिकाधिक सम्भव हो गया। अब भारतीय जनता विभिन्न वैज्ञानिक विषयों से उत्तरोत्तर परिचित हो रही थी। समाज-शास्त्र, राजनीति, न्याय, अर्थ-शास्त्र चिकित्सा-शास्त्र आदि विषयों की पुस्तकों की आवश्यकता स्पष्टतर हुई।

साथ ही रेल, तार डाकखानों आदि ने हमारे रहन-सहन, आचार-विचार में परिवर्तन पैदा कर दिया। इस नवीन युग के नितान्त नवीन मण्डल में लोगों की साहित्यिक रुचि में उलट-फेर होना स्वाभाविक था। लेखकों में पूर्वकालिक लक्षण-काव्य के प्रति उदासीनता एवं उपेक्षा के भाव उदित हुए और क्रमशः गद्य के समीचीन स्वरूप का कलेवर सँवारा जाने लगा।

इस समय समाज के प्रत्येक अङ्ग में ऐहिक तथा जीवनोपयोगी साहित्य के लिए गद्य अपेक्षित था। अंङ्गरेज़ों को भी पारस्परिक परिचय बढ़ाने के लिए बोलचाल की भाषा का आश्रय लेना पड़ा। ईसाईमत के प्रचार में भी खड़ी बोली ही उपयुक्त माध्यम थी। इस प्रकार खड़ी बोली सरल और आमफ़हम होने के कारण मुसलमानों

की भाँति अङ्गरेजों द्वारा भी अपनायी गयी। मुग़ल-दरबारियों के ही सदृश अङ्गरेजों को भी अपने वाणिज्य के उत्कर्ष में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए जो बाबू रखने पड़े उन्हें देश की प्रचलित भाषा खड़ी बोली में व्यवहार-कुशल होना अनिवार्य था। गद्य में विकास और शोधन के चिह्न भी अब स्पष्ट हो रहे थे। विरामादि चिह्नों के प्रयोग को लोग समझने लगे थे और व्याकरण सम्बन्धी नियम-बद्धता स्वीकृत हो रही थी। अकबर के समय में गङ्ग कवि की भाषा के निम्नाङ्कित अवतरण से तुलना करने से यह विदित हो सकता है।

गङ्ग कवि का प्रसिद्ध लेख देखिये :—

"सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाह जी श्री दलपति जी अकबर साह जी अमर-वास में तख़्त ऊपर विराजमान हो रहे। और अमर-वास भरने लगा है। जिसमें तमाम उमराव आय-आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करे अपनी अपनी मिसल ले। जिनका बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की झूलें पकड़-पकड़ के खड़े ताज़ीम रहे।"

उपरोक्त अनगढ़ तथा शिथिल वाक्य-विन्यास से निम्नाङ्कित अंश की तुलना कीजिये—

"अब कान रखके, आँखें मिला के, सम्मुख होके टुक इधर उधर देखिये, किस ढब से बढ़ चलता हूँ और अपने फूल की पङ्खड़ जैसे होठों से किस किस रूप के फूल उगलता हूँ।"

यहाँ हमें अधिक व्यंजकता और परिमार्जन लक्षित होता है। इंशा अल्ला खाँ के गद्य लेख खड़ी बोली को साहित्यिक स्वरूप देते हैं। आप

हिन्दी गद्य के आदि निर्माण-कर्त्ता

के साथ, सम्वत् १८६० के समीप तीन अन्य सज्जन गद्याकाश में चमके। वे हैं मुंशी सदासुख लाल 'नियाज़', लल्लूलाल और सदल मिश्र। इन चारों लेखकों की प्रतिभापूर्ण शैली ने गद्य-निर्माण

के पथ को हिन्दी के आदि युग में प्रशस्त और आलोकपूर्ण बनाया।

इन लेखकों की शैली में यद्यपि परस्पर गहरी मित्रता थी, किन्तु वह अपने काल का यथार्थ दर्पण होने के कारण देश के परम्परागत साहित्य में ग्रहण कर ली गयी। मुंशी सदासुख लाल द्वारा निर्मित गद्य हमारे गद्य के विकास का अत्यन्त महत्वपूर्ण आधार है। इनके द्वारा किये गये हिन्दी के साहित्यिक प्रयोग से गद्य का एक नियमित रूप से आरम्भ हुआ।

सदासुख लाल "नियाज़" दिल्ली निवासी थे। इनका जन्म सम्वत् १८०३ में हुआ था। आप फ़ारसी के विद्वान ग्रन्थकार तथा शायर थे।

सदासुख लाल 'नियाज़'

अपनी प्रौढ़ावस्था में ये कम्पनी की अधीनता में एक अच्छे पद पर नियुक्त हुए। ६५ वर्ष की अवस्था में आपने कम्पनी की नौकरी छोड़ दी और प्रयाग में आकर अपनी शेष आयु भगवद्भजन में व्यतीत करने लगे। इनका परलोक-वास ७८ वर्ष की आयु में हुआ। आपका प्रामाणिक गद्य—"सुख-सागर" में मिलता है। यह ग्रन्थ श्रीमद्भागवत का स्वतन्त्र अनुवाद है।

अभी तक खड़ी बोली में उर्दू का साम्राज्य था। शिक्षित-वर्ग के 'शिष्ट' वार्तालाप का आधिक्य रहता था। पण्डितों, सन्तों और कथा-वाचकों की प्रचलित भाषा में संस्कृत का पुट रहने से मुसलमान लोग उसे "भाखा" कहते थे। सदासुख लाल ने जब यह देखा कि लोग 'भाषा' के चलन को बन्द करने में लगे हैं और अङ्गरेज़ी शिक्षाप्राप्त समुदाय भी इसकी अवहेलना कर रहा है, तो उन्होंने इसी संस्कृत-मिश्रित बोल-चाल की भाषा को अपने अनुवादित ग्रन्थ में प्रयुक्त किया। आपकी हिन्दी प्रान्तीयता लिये हुए ठेठ ग्रामीण होने के साथ साथ संस्कृत के शुद्ध तत्सम शब्दों को अपने अङ्क में लिये है। इस प्रकार हिन्दुओं की इस शिष्ट बोलचाल की भाषा पर जो दिल्ली से लेकर सुदूर पूर्व पर्यन्त प्रचलित थी, आपने सर्वप्रथम साहित्यिक छाप

लगा दी। 'सुखसागर' का प्रणयन आपने स्वान्तः सुखाय ही किया था, अन्य किसी की प्रेरणा से नहीं। अपनी इच्छावश रचे हुए इस धार्मिक आख्यान को कथावाचकों का योगदान मिलने से वे अपने हिन्दी गद्य को साहित्यिक छवि देने में सफल भी हुए। उनके अनुवादित ग्रन्थ—'सुखसागर' का एक उद्धरण यहाँ प्रस्तुत है—

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चाण्डाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ब्राह्मण से चाण्डाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है, वह प्राप्त हो और जिससे निज स्वरूप में लय हूजिये। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइये, और फुसलाइये, और सत्य छिपाइये, व्यभिचार कीजिये और सुरापान कीजिये, और धन द्रव्य इकठौर कीजिये, और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिये। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

उपरोक्त उद्धरण की भाषा शान्त तथा स्थिर है और उसमें चलताऊपन का स्पन्दन है। इसमें फ़ारसी या अरबी का एक भी शब्द नहीं देख पड़ता। यद्यपि आपने उर्दू में पर्याप्त पद्य-रचना की थी और उसमें भागवत, रामायण प्रबोध-चन्द्रोदय आदि का अनुवाद करके भगवान का गुणानुवाद किया है; किन्तु 'सुखसागर' में आपने भाषा का प्रचलित पण्डिताऊपन सुरक्षित रखा है। आपकी शैली में इंशाअल्ला ख़ाँ की लपट, झपट और मुहावरेबन्दी नहीं है, प्रत्युत विषय के अनुकूल शान्त प्रवाह है; साथ ही यह इस बात की भी द्योतक है कि उर्दू ही उस समय की प्रचलित भाषा न थी।

साहित्य का आरम्भिक काल गूढ़ विचारों के गहन विवेचन का

नहीं होता है। इसका कारण सम्भवत: यही है कि इस समय भाषा में व्यञ्जना-शक्ति का समुचित प्रादुर्भाव नहीं हो पाता है, तथा उसमें तथ्य की विवेचना के लिए अपेक्षित भाव प्रकाशन का बल भी उचित परिमाण में जागृत नहीं हो पाता। अत: मनोविनोद अथवा किसी धर्म-मानता की परिपुष्टि, जिसमें लोक-रुचि स्वत: खिँची रहती है, साहित्य का एक ऐसा आधार रह जाता है जिसके द्वारा समाज की रुचि पठन-पाठन के प्रति आकर्षित होती है। अत: इंशाअल्ला ख़ाँ का कहानी लेकर आना स्वाभाविक ही था।

इंशाअल्ला ख़ाँ

इंशा ने अपनी "रानी केतकी की कहानी" सम्वत् १८५५ और १८६० के अन्तर्गत लिखी। आप दिल्ली के निवासी थे। राज-दर्बार में इनके पिता का यथेष्ट सम्मान था। इनका बचपन बड़ा सरल और प्रमोदमय रहा। आरम्भ में इन्होंने कविता लिखना शुरू की। राज-दर्बार में बादशाह शाहआलम ने इनकी शायरी को प्रशंसायुक्त उत्तेजना दी। ग़दर के बाद आप लखनऊ चले आये। यहाँ इनकी रँगीली तबियत से चञ्चलता प्रस्फुटित हुआ करती थी। ये उर्दू-फ़ारसी के मर्मज्ञ और कवि थे ही; आपने सङ्कल्प किया कि एक ऐसी कहानी लिखी जाय जिसमें "हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट" न मिले। वह "बाहर की बोली और गँवारी" से मुक्त हिन्दवी भाषा में हो। आपकी कहानी पूर्णत: मौलिक है। अन्य किसी कथा अथवा आख्यान पर आधारित नहीं। न इसका हेतु कोई तत्कालीन उद्देश्य की प्रेरणा ही था। इसमें सन्देह नहीं कि इस कहानी की भाषा में आश्चर्यजनक हिन्दीपन है। भाषा की चुलबुलाहट और रोचकता, मुहाविरेबन्दी, और अनुप्रासों के संयोग तथा वाक्यांशों में तुकान्त की कर्ण-प्रियता आदि पर इनकी अपनी छाप लगी है।

इंशाअल्ला ख़ाँ की भाषा-शैली में उर्दू का प्रवाह है। यह उनके मुसल्मानीपन का लक्षण है। वास्तव में 'रानी केतकी की कहानी'

की भाषा हिन्दी ही है। ऐसा ही उन्होंने घोषित भी किया है। हाँ, वाक्यविन्यास अनेक स्थलों पर उर्दू के तद्रूप हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आपकी भाषा अपने काल के गद्यकारों में "सबसे चटकीली, मटकीली, मुहाविरेदार और चलती है," किन्तु इसका परिधान और शृङ्गार इतना आडम्बरपूर्ण है कि इसमें उच्च गद्य का समावेश दुस्तर है। मनोविनोद के लिए यह फड़कती हुई चलती है, किन्तु अन्य किसी साहित्यिक लक्ष्य तक पहुँचने में यह पङ्गु है। हाँ, अपने कथानक के लिए यह सर्वथा उपयुक्त है और पाठकों की रुचि को आकृष्ट करने के लिए इसमें प्रबल वेग है। इनकी शैली में काल्पनिक और शाब्दिक दोनों ही चमत्कार देख पड़ते हैं। कहानी के निम्नाङ्कित अंश से इंशा साहब की भाषा की एक झाँकी मिल सकती है

" दहना हाथ मुँह पर फेरकर आपको जाताता हूँ, "जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद और लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से बहुत चञ्चल है अचपलाहट में अपनी चौकड़ी भूल जाय।"

उपरोक्त अंश भाषा की दृष्टि में अपने काल का परिमार्जित और प्रवाहयुक्त कहा जाना चाहिए। यह सोचकर कि उनका कथानक अन्य किसी ग्रन्थ अथवा कथा पर आधारित न होकर पूर्णतया कल्पना-प्रसूत है; तथा इस दृष्टि से कि यह आज से सवा सौ वर्ष पहले के एक मुसल्मान सज्जन की लिखी हिन्दी है, यह कहना पड़ता है कि इंशा साहब इस नवीन शैली की उद्भावना के कारण वर्तमान हिन्दी संसार से प्रशंसा के भागी हैं। आपने अपनी शैली द्वारा बाद के अनेक कीर्तिमान हिन्दी लेखकों के लिए मार्ग-निर्देशित किया है। इस शैली में हमें केवल शब्द-बाहुल्य ही नहीं, किन्तु भाव-प्रवरता भी मिलती है। उसकी हास्य-प्रियता और मनोरञ्जन-वृत्ति ने भाषा में वह असाधारण व्यञ्जना-शक्ति दे दी है जो सम्भवतः उस समय के चार आचार्यों में से अन्य किसी के भी गद्य में न थी। हाँ, आगे चलकर

प्रतापनारायण मिश्र की भाषा में जो प्रवाह और ज़िन्दादिली देख पड़ी वह बहुत कुछ इंशा साहब की सरिता का एक स्रोत है।

उपरोक्त कथन का यह आशय नहीं कि इंशाअल्ला ख़ाँ का गद्य सर्वथा दोषरहित है। उनका "आतियाँ" 'जातियाँ' का प्रयोग दूषित तथा पुरानी परित्यक्त परिपाटी का है। 'घरवालियाँ' 'बहलातियाँ' आदि शब्दों का उर्दूपन बहुत ही निम्नकोटि का है। इसके अतिरिक्त आपकी शैली में बौद्धिकता अथवा मननशीलता का कोई स्थान न होना उसका एकाङ्गीपन प्रदर्शित करता है।

हिन्दी गद्य के उन्नायकों में इंशा साहब के समकक्ष सदल मिश्र का पद बहुत ऊँचा और प्रतिष्ठित है। आपने कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम

सदल मिश्र

कालेज के अध्यक्ष जान गिलक्रिस्ट के आदेश से खड़ी बोली में 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। इस ग्रन्थ की भाषा बोल-चाल का व्यावहारिक रूप है। इस सीधी-सादी शैली में आपने लल्लूलाल जी की तरह शब्दों का रूप विकृत नहीं होने दिया। न आपकी वाक्य-योजना में पद्यात्मक भाषा के अनुरूप पद-विन्यास ही है। इसके स्थान पर मुहाविरेबन्दी और दोहरे पदों के प्रयोग से शैली में यथेष्टस्फूर्ति आ गयी है। आपका शब्द-भाण्डार अत्यधिक चलताऊ ढङ्ग का है। भाषा को सँवारने का प्रयास आप में बहुत कम मिलता है, तथा स्थान स्थान पर पूर्वी बोली के समावेश से स्वच्छता की ओर भी ध्यान नहीं दिया गया है। हाँ, उर्दू के ढङ्ग के मुहाविरों के प्रयोग से यह नवीनता की ओर अग्रसर है। आपकी शैली यद्यपि फ़ारसी और अरबी के प्रभाव से बिलकुल अछूती नहीं है, फिर भी सदासुखलाल की भाँति यह पण्डिताऊपन लिये है। गद्यालोचकों के मत से मिश्रजी की भाषा एकरस नहीं है। वस्तुतः आपकी हिन्दी की गति स्वच्छन्द है। आपने भी इंशा साहब की भाँति वाक्य-निर्माण में शब्दों का उलट-फेर किया है; यथा—'जल बिहार हैं करते', 'अब ही हुआ है क्या'। 'और' के

स्थान में 'श्रो' तथा 'वो' दोनों का प्रयोग है। बहु-बचन प्रयोग भी एक ही प्रकार का नहीं है जैसे 'हाथन' 'सहस्रन' के साथ 'कोटिन्ह' 'बहुतेरन्ह' आदि। हाँ, आपके मुहाविरों में आजकल की हिन्दी की सजीविता का सङ्केत है; जैसे "लड़कई से आज तक' 'सुग्गा सा पढ़ाया'। इनके लिखे 'नासिकेतोपाख्यान' से निम्नाङ्कित अवतरण प्रस्तुत है—

"राजा रघु ऐसे कहते हुए वहाँ से तुरन्त हर्षित हो उठे। वो भीतर जा मुनि ने जो आश्चर्य बात कही थी सो पहले रानी को सब सुनायी। वह भी मोह से व्याकुल हो पुकार-पुकार रोने लगी वो गिड़गिड़ा-गिड़गिड़ा कहने लगी कि महाराज जो यह सत्य है तो अब ही लोग भेज लड़के समेत झट उसको बुला ही लीजिये क्योंकि अब मारे शोक के मेरी छाती फटती है। कब मैं सुन्दर बालक सहित चन्द्रावती का मुँह, कि जो बन के रहने से भोर के चन्द्रमा सा मलीन हुआ होगा, देखोंगी। देखो, यह कर्म का खेल, कहाँ इहाँ नाना भाँति भोग-विलास में वो फूलन्ह के बिछौने पर सुख से जिसके दिन-रात बीतते थे, सो अब जङ्गल में कन्दमूल खा काँटे कुश पर स्यारों के चहुँदिश डरावने शब्द सुनि कैसे विपति को काटती होगी।"

उपरोक्त अंश से स्पष्ट है कि मिश्रजी का गद्य नितान्त सीधा सादा है। शाब्दिकता अथवा रसीलेपन के स्थान पर स्थूल-व्यञ्जना-प्रणाली ही प्रयुक्त की गयी है। यहाँ पर लल्लूलाल जी की तरह न व्रज का परिधान है न पद्यात्मिकता। यह केवल व्यवहारोपयोगी खड़ी बोली की एक प्रतिलिपि है।

लल्लूलाल जी

लल्लूलाल का जन्म सम्वत् १८२० तथा मृत्यु सम्वत् १८८२ में हुई थी। आगरा निवासी, लल्लूलाल जी का प्रामाणिक गद्य ग्रन्थ 'प्रेमसागर' है। इसमें श्री मद्भागवत दशमस्कन्ध की कृष्ण-कथा है। आपने भी कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम

कालेज में जान गिलक्रिस्ट साहब की अधीनता में रह कर अङ्गरेज कर्मचारियों को भारतीय भाषा का ज्ञान कराने के उद्देश्य से इस गद्य-ग्रन्थ का प्रणयन किया था। प्रेमसागर की भाषा इस बात की परिचायक है कि उस समय तक साहित्यमें गद्य पद्य के प्रभाव से मुक्त न हो पाया था। पुस्तक की भाषा खड़ी बोली होने पर भी इसमें व्रजभाषा का प्राधान्य परिलक्षित है। सम्भवत: लेखक के आगरा निवासी होने के कारण इसमें व्रज की प्रबलता है। इसके अतिरिक्त आप उर्दू के प्रभाव से बचना चाहते थे। अतएव आपकी शैली सदलमिश्र की भाँति चलताऊ और व्यावहारिक नहीं है। उर्दू से मुक्त और व्रज तथा संस्कृत-मिश्रित खड़ी बोली की अपनी एक शैली की उद्भावना करने में, आपने भाषा आडम्बरपूर्ण और अस्वाभाविक बना दी।

इनकी वाक्यरचना में पारस्परिक तल्लीनता न होने से भाषा के प्रवाह में स्थिरता नहीं लायी जा सकी। वास्तव में आपकी भाषा बहुत कुछ गोकुलनाथ आदि की प्राचीन शैली की ओर झुकती हुई है। किन्तु स्थान-स्थान पर तुकबन्दी, अनुप्रास तथा वाक्यों के यथेष्ट बड़े होने से वह पुरानी बर्बरता नहीं रहने पायी है। गढ़ी हुई होने पर भी इसमें शालीनता है और वह मार्जित है। 'प्रेम सागर' की भाषा कथा-वार्ता और पण्डिताऊ ढर्रे पर है। यही कारण है कि इसमें मुहाविरों का प्रयोग अथवा अन्य किसी प्रकार का भाषा-सौष्ठव बहुत कम मात्रा में पाया जाता है। रामचन्द्र शुक्लके शब्दों में 'लल्लूलाल की भाषा कृष्णोपासक व्यासों की सी व्रजरञ्जित खड़ी बोली है'। नीचे का अंश 'प्रेमसागर' से उद्धृत है—

"श्री शुकदेव मुनि बोले कि—महाराज! ग्रीष्म की अति अनीति देख, नृप पावस, प्रचण्ड पशु-पक्षी, जीव-जन्तुओं की दशा विचार, चारों ओर से दल, बादल साथ ले, लड़ने को चढ़ आया। तिस समय जो घन गरजता था सोई धौंसा बजता था और वर्ण-वर्ण की घटा जो

घिर आयी थीं, सोई शूरवीर रावत थे; तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमकती थी, बगपाँत ठौर ठौर ध्वजा सी फहराय रही थीं, दादुर, मोर कड़खेतों की सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी बड़ी बूँदों की झड़ बाणों की सी झड़ी लगी थी। इस धूमधाम से पावस को आते देख, ग्रीष्म, खेत छोड़, अपना जी ले, भागा; तब मेघ पिया ने वर्षा से पृथ्वी को सुख दिया। उसने जो आठ महीने पति के वियोग में योग किया था, तिसका भोग कर लिया।"

अनुवादित ग्रन्थ 'प्रेमसागर' के अतिरिक्त श्री लल्लूलाल ने चार अन्य पुस्तकें व्रजभाषा की कथाओं के आधार पर लिखी हैं, जिनके नाम हैं—सिंहासन बत्तीसी, वैताल पच्चीसी, शकुन्तला नाटक और माधोनल।

उपरोक्त चारों गद्यकारों का रचना-काल सम्वत् १८६० का समीपवर्ती है। इनमें से पूर्णतः मौलिक गद्य लेखक इंशा साहब ही ठहरते हैं। आप की शैली भी स्वतन्त्र है। जिस प्रकार इनकी "रानी केतकी की कहानी" का कोई आधार-ग्रन्थ न था, उसी तरह उनका आलेख भी किसी पूर्ववर्ती के गद्य का अनुकरण नहीं कर रहा है। उसका वेष नितान्त नवीन और चाल-ढाल निराली ही है; किन्तु इसमें केवल मनोविनोद की ही सृजन-शक्ति थी। अतः एकाङ्गी होने के कारण इसे हम प्रौढ़ गद्य का स्वरूप स्वीकार नहीं करते हैं। इसी प्रकार लल्लूलाल जी की रचना भी, यद्यपि हिन्दी गद्य का प्रारम्भिक साहित्यक प्रयोग भले ही कहाता है, किन्तु इसमें व्यवहारिकता की कमी तथा समय से उलटे लौटने की प्रवृत्ति होने से, हिन्दी का बोधगम्य स्वरूप नहीं मिलता। आपकी शैली का प्रयोग सार्वभौमिक भी नहीं है। हाँ, सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा में हमें आधुनिक हिन्दी का मूल-रूप लसित हो जाता है। मिश्र जी की शैली लल्लूलाल जी की अपेक्षा अधिक गठीली और विशद

प्रथम निर्माणकों का सापेक्षिक योग

भी है। व्यञ्जना और भाव-प्रकाशन की दृष्टि से वह अधिक सचिक्कण जँचती है। किन्तु सदासुखलाल का आविर्भाव चूँकि मिश्रजी से पहले का है, तथा भाषा सम्बन्धी उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त यह महत्वपूर्ण विशेषता पायी जाती है कि आपने किसी अन्य के आदेशानुसार नहीं, प्रत्युत स्वान्तः सुखाय ही अपनी लेखनी में 'भाखा' के लुप्त-प्राय प्रभाव को फिर से जागृत किया है—आपका स्थान अधिक महत्वशाली है। शैली की दृष्टि से भी मुन्शी जी की भाषा सर्वत्र व्यावहारोपयोगी है और इसमें आधुनिक गद्य का आदि रूप प्रचुर मात्रा में देखने में मिल जाता है। अतएव सदासुख जी को हिन्दी-गद्य के निर्माणकों में प्रथम स्थान देना चाहिए।

संवत १८६० के लगभग हिन्दी गद्य की स्थापना तो हो गयी, किन्तु विकास का क्रम न आरम्भ हो पाया। खड़ी बोली के इन अधिष्ठाताओं के सद्प्रयास की प्रतिक्रिया बहुत दिनों बाद तक न देख पड़ी। गद्य रचना ने इसके बाद ही एक दीर्घकाल-व्यापी निष्क्रियता का अवकाश ले लिया। सिपाही-विद्रोह (सं० १९१४) के आरम्भ तक फिर कोई उल्लेखनीय गद्य का पता नहीं मिलता। विद्रोह के बाद जब देश का सामाजिक और राजनैतिक वायुमण्डल बहुत कुछ परिवर्तित हो गया और साथ ही समाज के जीवन में कुछ स्थिरता आयी तब हिन्दी गद्य को परम्परागत साहित्य का स्वरूप और गौरव मिला। विगत साठ वर्षीय गद्य-क्षेत्र की निष्क्रियता के कारणों की ओर भी यहाँ सङ्केत कर देना प्रासङ्गिक जान पड़ता है।

लगातार साठ वर्ष तक गद्य के अभाव के कारण—

अङ्गरेज़ों ने अपने आरम्भिक काल, आगमन के दिनों में, भारतीय भाषा से परिचित होने के निमित्त हिन्दी लेखकों को आश्रय दिया था। उन्हें ईस्ट इण्डिया कम्पनी में बाबूगीरी तथा कालेज में अध्यापन

कार्य देकर उनसे हिन्दी सीखी। जब उनकी व्यापार-व्यवहार सम्बन्धी इस आवश्यकता की पूर्ति हो गयी तो भाषाविद् गद्य लेखकों का यह आधार लुप्त हो गया। ऐसी स्थिति में हिन्दी गद्य के विकास का यह द्वार भी बन्द हो गया। इसके अतिरिक्त "नासिकेतोपाख्यान" और 'प्रेमसागर' जैसी हिन्दी की पुस्तकें, जो गिलक्रिस्ट साहब के आदेश निर्देशानुसार लिखी गयीं थीं, वे अङ्गरेजों को प्रभावित न कर सकीं। इन पुस्तकों द्वारा हमारी सांस्कृतिक अवस्था का बहुत बुरा चित्र उनको मिला। कम्पनी के कर्मचारियों को अब अङ्गरेजी शिक्षित बङ्गाली बाबुओं की आवश्यकता थी; अतः उन्होंने अङ्गरेजी पठन-पाठन का क्षेत्र तैयार करने का प्रयास आरम्भ कर दिया। मैकाले की शिक्षा योजना को व्यापक रूप धारण करते ही अङ्गरेजी शिक्षा का प्रसार और आदर होने लगा। इस प्रकार हिन्दी न अब अङ्गरेजों के सम्पर्क में जीविकोपार्जन का साधन थी और न किसी अन्य प्रतिष्ठित राजदबार ही की साहित्यिक भाषा।

अङ्गरेजों ने जब राज्य-विस्तार की ओर अपनी सारी शक्तियाँ लगा दीं तो देश में भी यत्र-तत्र राजनैतिक विपर्यय दृष्टिगत होने लगा। समाज में अशान्त वातावरण प्रकट हो जाने से साहित्य-निर्माण का फिर सुयोग कहाँ? इन दिनों देश में कोई धार्मिक आन्दोलन भी प्रचलित न था जो विषय के खण्डन-मण्डन करने तथा मत-मतान्तर को प्रकाश में लाने के लिए गद्य-ग्रन्थ लिखे जाते। हाँ, ईसाइयत का प्रसार निर्बाध गति से बढ़ रहा था। ईसाई धर्मप्रचारकों ने अपने कार्य-सम्पादन में हिन्दी से सहायता भी ली। बाइबिल का अनुवाद सुबोध भाषा में अवश्य हुआ, किन्तु शासन-कार्य तथा न्यायालयों की बोली तथा लिपि उर्दू और फ़ारसी ही थी। इस समय हिन्दी खड़ी बोली का वह रूप विकसित हुआ जो उर्दू लिपि में लिखा जाता था और जिसमें न केवल फ़ारसी और अरबी लिपि की ही प्रधानता रहती थी प्रत्युत उनके व्याकरण का

भी हिन्दी खड़ी बोली के साथ बेजोड़ मिलाप दिखायी देता था।

खड़ी बोली का यह स्वरूप उर्दू भाषा के नाम से विख्यात हो गया। यह उर्दू भाषा कभी-कभी देवनागरी लिपि में भी लिखी गयी; किन्तु कचहरियों में उर्दू लिपि का ही अधिकार था। इस प्रकार उर्दू को प्रोत्साहन मिलने से जनता में भी उर्दू के प्रति अनुरक्ति बढ़ी। सम्वत् १८९० में दिल्ली से एक उर्दू अखबार प्रकाशित हुआ। सारांश यह कि एक ओर तो मैकाले की शिक्षा-योजना के अनुसार अङ्गरेज़ी शिक्षा के प्रचार से हिन्दी को इस काल में धक्का लग रहा था, दूसरी ओर हिन्दी के समक्ष उर्दू की उन्नति पहले प्रारम्भ हो गयी।

राजा शिवप्रसाद

सम्वत् १९०२ में राजा शिवप्रसाद ने बनारस से "बनारस अखबार" निकाला। इसकी लिपि यद्यपि नागरी थी किन्तु शब्द-भण्डार उर्दू ही था। इस समय उर्दू ही शिक्षित-वर्ग की खड़ी बोली हो रही थी। हाँ, आगरे में पादरियों की "स्कूल बुक सोसाइटी" से 'कथा-सार' प्रभृत जो अनुवादित पुस्तकें निकल रहीं थीं उनकी भाषा अवश्य शुद्ध और पण्डिताऊ हिन्दी थी। अङ्गरेज़ी स्कूलों की शिक्षा विषयक पुस्तकों की जो माँग उत्पन्न हुई उनकी भाषा में उर्दू-दानी न घुस सकी। आगरे की उक्त सोसाइटी के लिए ओङ्कार जी भट्ट ने 'भूगोल-सार' और बद्रीलाल शर्मा ने 'रसायन प्रकाश' लिखा। कलकत्ते में भी एक स्कूल बुक सोसाइटी ने 'पदार्थ विद्यासागर' तथा अन्य विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित की थीं। इसी प्रकार मिर्ज़ापुर में भी ईसाइयों के 'आरफ़न प्रेस' ने शिक्षा-सम्बन्धिनी अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं।

वास्तव में ईसाइयों ने ही शिक्षा विषयक पुस्तकों का प्रकाशन सर्वप्रथम अपने हाथ में लिया और हिन्दी गद्य के विस्तार में उस समय अच्छी सहायता दी। किन्तु, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है नव-शिक्षित लोगों की अनुरक्ति भाखा से हटकर उर्दू की

ओर जा रही थी और वृद्ध लोगों का 'भाखा' के प्रति एक धार्मिक भाव ही रह गया था; अतः ईसाई मिशनिरियों का सदुद्योग गद्य के विकास में जनता द्वारा अधिक व्यापक स्वरूप न पा सका। इस काल की प्रचलित हिन्दी का उल्लेख करते हुए बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने एक स्थल पर लिखा है—"हिन्दी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।" ऐसी स्थिति में यदि राजा शिवप्रशाद के 'बनारस अख़बार' की भाषा 'उर्दू ए-मुअल्ला' दिखायी पड़ती है तो आश्चर्य न होना चाहिए। अस्तु, नीचे दिये हुए अवतरण से पत्र की भाषा सम्बन्धी जानकारी मिल सकती है—

'यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई

दफ़ा जाहिर हो चुका है। देखकर लोग पाठशाले के क़िते के मकानों की .खूबियाँ अक्सर बयान करते हैं और उनके बनने के खर्च की तजवीज़ करते हैं कि जमा से ज्यादा लगा होगा और हर तरफ़ से लायक़ तारीफ़ के है। सो यह सब दानाई साहब ममदूह की है।"

फिर भी इसमें यत्र-तत्र शुद्ध हिन्दी शब्दों की झलक मिल जाती है। कारक और क्रियाएँ तो पूर्णरूप से हिन्दी ही की हैं। उपरोक्त अवतरण से प्रकट है कि नागरी अक्षरों में लिखी जाने वाली 'उर्दू' उस काल की हिन्दी है। राजा शिवप्रसाद के लिए ऐसी स्थिति में भाषा के शोधन का कार्य अत्यन्त दुस्तर था। सम्वत् १९१३ में जब वे सरकारी स्कूलों में शिक्षा-विभाग की ओर से इंस्पेक्टर नियुक्त हुए तो उनके लिए एक यह समस्या उपस्थित थी कि शिक्षा-विषयक पाठ्य-पुस्तकों की भाषा का रूप कैसा हो। उनके अनेक मुसलमान

सहयोगी, जिनका शिक्षा विभाग में प्रभाव-पूर्ण व्यक्तित्व था, 'भाखा' से बुरी तरह अनखनाया करते थे। उनमें से कुछ तो हिन्दी के ऐसे प्रबल विरोधी थे कि हिन्दी को वे 'मुश्किल ज़बान' कहकर उसके पढ़ाने की व्यवस्था तक न होने देना चाहते थे। उन्होंने इसे हिन्दुओं की 'मज़हबी ज़बान' और 'गवाँरी बोली' समझा। अस्तु, जब किसी प्रकार हिन्दी ने उन स्कूलों के पाठ्य-क्रम में स्थान पाया तो पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता उत्पन्न हुई।

राजा शिवप्रसाद ने अपने मित्रों सहित समय की लहर पर दृष्टि डालते हुए हिन्दी के उत्थान में उस कशमकश के युग में जो पाठ्य-पुस्तकें लिखीं उसकी भाषा ठेठ हिन्दी के साथ फ़ारसी अरबी के प्रचलित शब्दों को लिये थी। राजा साहब ने अपनी हिन्दी में उर्दू का प्राधान्य स्वीकार किया है और उर्दू-दाँ होने की दुहाई देते हुए अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा में हिन्दी को जिस स्वरूप में व्यवहृत किया है वह भाव उनके लिखे "भाषा का इतिहास" शीर्षक लेख के निम्नाङ्कित अंश में यथेष्ट मात्रा में पाया जाता है—

"हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आम फ़हम और खास पसन्द हों, अर्थात् जिनको ज्यादा आदमी समझ सकते हैं और जो वहाँ के पढ़े लिखे, आलिम, फ़ाज़िल, पण्डित, विद्वान् की बोल-चाल में छोड़े नहीं गये हैं········।"

यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा विभाग से सानिध्य होने के पूर्व राजा साहब का सरल हिन्दी के प्रति अनुराग था जैसा कि उनके लिखे हुए 'इतिहास तिमिर-नाशक' की भाषा से स्पष्ट है, किन्तु कुछ ही दिनों के पश्चात् वे निरन्तर उर्दू-दाँ बन गये। 'इतिहास तिमिर-नाशक' की भाषा में रोचकता और अच्छा प्रवाह है। किन्तु राजा साहब द्वारा निर्मित सब ग्रन्थों की भाषा एक सी नहीं है। कहीं पर यदि वे 'उर्दुए मुअल्ला' हैं तो अन्यत्र सुबोध और वस्तुतः आम-फ़हम के निकट भी। 'इतिहास तिमिर-नाशक' से एक अवतरण यहाँ प्रस्तुत है—

"निदान अब ज़रा औरङ्गजेब की फ़ौज पर निगाह करनी चाहिए ज़रा इसके सर्दारां के घोड़ों को देखना चाहिए दुम और पालें बिलकुल रँगी हुई सोने चाँदी के साज सिर से पैर तक लदे हुए क़लगियाँ बहुत लम्बी-लम्बी पैरों में झाँझनें बँधी हुईं मोटे इतने कि जितने लम्बे शायद उर्सी के क़रीब-क़रीब चौड़े और चारजामें उन पर मखमली ज़र दोज़ी बड़े भारी दोनों तरफ़ लटकते हुए सवार घोड़ों से भी ज़ियादा देखने के लाइक़ हैं।"

हमें यहाँ विरामादि चिन्हों का पूर्ण वहिष्कार देखने में आता है।

\+ \+ \+ \+ \+

राजा शिवप्रसाद ने पाठ्यक्रम के उपयोगी कहानियाँ लिखी हैं— जैसे 'राजा भोज का सपना' 'वीरसिंह का वृत्तान्त' 'आलसियों का कोड़ा' आदि। कहते हैं हिन्दी प्रचार की बलवती इच्छा ने ही राजा साहब को उर्दू शैली का आश्रय ग्रहण कराया। अधिक शक्ति सम्पन्न मुसलमानों के मुँह से छीनी हुई जो हिन्दी हो सकती थी वही राजा शिवप्रसाद की हिन्दी थी। किन्तु वे अपनी अस्वाभाविक 'आमफ़हम' भाषा को समाज-प्रचलित स्वरूप देने में असफल ही कहे जायँगे।

'राजा शिवप्रसाद की शैली का विरोध

देश की सांस्कृतिक वृत्तियां खड़ी बोली को इस परिवर्त्तित रूप में अपने अङ्क में भला कैसे स्थान देतीं? लोगों को उसका यह परिवर्तन अखरा और राजा लक्ष्मणसिंह अपने पत्र 'प्रजा हितैषी' को लेकर सम्मुख आये। आपने इस पत्र द्वारा वास्तविक हिन्दी को प्रोत्साहन दिया। राजा शिवप्रसाद के दूसरे विरोधक नवीन चन्द्र राय थे। ये आर्यसमाजी तो न थे, परन्तु विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा के बड़े समर्थक थे। इन्होंने भी अपने प्रबन्धों द्वारा राजा शिवप्रसाद की भाषा का जवाब दिया था। काशी से एक दूसरा पत्र 'सुधारक' नामक भी निकला। इसके प्रकाशन

में तारामोहन मित्र आदि का प्रयास था। इसकी भाषा 'बनारस अख़बार' से कहीं अधिक सुथरी हुई थी। आगरे से भी मुन्शी सदासुखलाल के सम्पादकत्व में 'बुद्धि-प्रकाश' का उदय हुआ। इस पत्र में अपने समय की परिमार्जित हिन्दी के भली प्रकार दर्शन मिले। इस पत्र से केवल एक वाक्य के उद्धरण से ही इसकी विशेषता सिद्ध हो जाती है।

"स्त्रियों में सन्तोष, नम्रता और प्रीति यह सब गुण कर्ता ने उत्पन्न किये हैं; केवल विद्या की न्यूनता है, जो यह भी हो तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं और लड़कों को सिखाना पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है वैसा दूसरों से नहीं।"

राजा लक्ष्मण सिंह के पत्र 'प्रजा हितैषी' में भी 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद शुद्ध और सरस हिन्दी में प्रकाशित होता था। इसने हिन्दी को सुधारने में प्रशंसनीय और महान् उद्योग किया। 'शाकुन्तला' की भाषा में हिन्दी के ठेठ शब्दों के साथ बहुत दिनों पहले से प्रचलित सरल, सरस संस्कृत शब्दों का समावेश है। भाषा का शोधन जैसा कुछ आप के हाथों हुआ वह स्मरणीय रहेगा। नीचे लिखे अंश से आप की भावपूर्ण और गठीली हिन्दी का नमूना मिल जाता है।

"तुम्हारे मधुर बचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो? क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमलगात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है।"
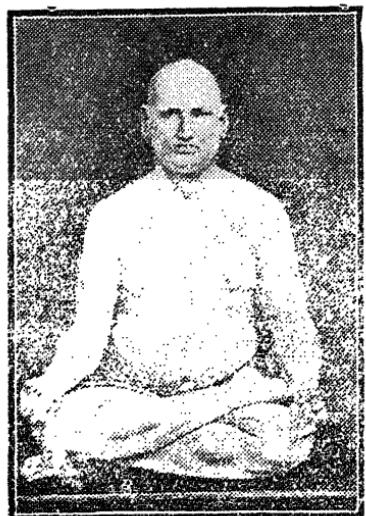
उपरोक्त अवतरण में राजा शिवप्रसाद की व्यवहृत् हिन्दी और फ़ारसी अरबी की लड़खड़ाहट नहीं है; प्रत्युत उर्दू के सदुद्योगी बहिष्कार के साथ पूर्व-प्रचलित सरस संस्कृत शब्दों का प्रयोग है। इसी समय स्वामी दयानन्द आर्य-समाज की पताका लेकर अवतीर्ण हुए। अपने धार्मिक आन्दोलन को लोक-व्यापी बनाते हुए उन्होंने हिन्दी के भाषा विषयक सङ्घर्ष में अपना निजी स्थान बना लिया।

स्वामी जी संस्कृत के विद्वान तथा काठियावाड़-निवासी होने के कारण गुजराती के अच्छे ज्ञाता थे। स्वामी दयानन्द के युग तक

स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायी

हिन्दी साहित्य कथा-कहानियों की सीमा को पार न कर सका था। स्वामी जी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दी के गद्य भाग को समुन्नत बनाया। सामाजिक, दार्शनिक तथा राजनैतिक विषयों पर सबसे पहले उन्हीं की लेखनी खुली। स्वामी जी सामाजिक जीवन के लिए भीषण वायुचक्र थे। इनके आन्दोलन ने हिन्दी को उठाया और उसमें विचार साहित्य की सृष्टि हुई। दयानन्द जी का एक मण्डल है। आर्य समाज का हिन्दीसाहित्य में निजी मत है। नाथूराम शर्मा, पद्मसिंह शर्मा, प्रो० इन्द्र, वंशीधर विद्यालङ्कार, भूदेव शर्मा विद्यालङ्कार इत्यादि लेखकों पर आर्यसमाज की छाप है। जहाँ तक स्वामी दयानन्द जी का सम्बन्ध है, उनकी हिन्दी संस्कृत के पण्डितों की है। उसमें रोचकता और शालीनता न होकर, संस्कृत के तत्तसम शब्दों के आधिक्य से कर्कशता और रूखापन आ गया है। स्वामी जी 'सब' के लिए 'सर्व' प्रयुक्त करते थे। आपके लिखे 'सत्यार्थ प्रकाश' 'वेदार्थ प्रकाश' 'संस्कार विधि' 'ऋग्वेदादि भाषा' की हिन्दी वस्तुतः 'आर्य-भाषा' है,। उसमें खड़ी बोली की सुगठित सजीविता नहीं।

स्वामी दयानन्द जी के अतिरिक्त अन्य और दो लेखकों ने आर्य-समाज के मञ्च से हिन्दी लिखी। ये भीमसेन शर्मा और ज्वालादत्त

शर्मा हैं। ये दोनों सज्जन स्वामी जी के विश्वसनीय और निकटवर्त्ती शिष्य थे। आर्य-समाज का प्रचार करते हुए इन्होंने हिन्दी का भी प्रचार-कार्य किया। भीमसेन का हिन्दी में संस्कृत शब्दों का समर्थन निराला है। उर्दू शब्दों तक को आपने संस्कृत का जामा पहनाया और संस्कृत के धातु रूपों में उनकी उत्पत्ति ढूँढी है। 'शिकायत' 'शिक्षायत्न' लिखते थे। संस्कृत को ही आपने हिन्दी शब्द-कोष का एक मात्र श्रोत स्वीकार किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

श्रद्धाराम फल्लौरी (पञ्जाबी) स्वामी दयानन्द के विरोध में साहित्यक योग दे रहे थे। उनकी भाषा में पञ्जाबीपने की प्रान्तीयता अधिक है। साधारण प्रकार से काव्यकला और हिन्दी साहित्य पर आर्य समाज का प्रभाव बहुत हितकर नहीं पड़ा; परन्तु हिन्दी गद्य के निर्माण में उसके अनुयायियों ने काफ़ी योग दिया है। इस समय तक हिन्दी के सभी लेखक अपनी अपनी शैली रखते थे। हर एक अपने अलग ढङ्ग से भाषा पर रङ्ग चढ़ा रहा था। एक ओर यदि राजा शिवप्रसाद उर्दू की हामी भरते थे तो ठीक उनके विपरीत स्वामी दयानन्द और भीमसेन आदि संस्कृत को एक मात्र आधार मानते थे। वास्तविक हिन्दी का स्वरूप पहचानने वाले राजा लक्ष्मण सिंह प्रभृति इने गिने सज्जन ही थे। ऐसे समय में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपनी प्रतिभा द्वारा हिन्दी को एक युगान्तरकारी योग दिया। अब सिपाही विद्रोह शान्त हो चुका था। अङ्गरेजों के शासन

की नींव दृढ़ हो गयी थी और समाज में शान्त वातावरण देख पड़ने लगा था। अतः अब लेखकों में भाषा विषयक राष्ट्रीयता का उदय होना स्वाभाविक था।

भारतेन्दु जी अपनी असाधरण मेधा-शक्ति द्वारा साहित्याकाश में खूब चमके। आपके पिता बाबू गोपालचन्द्र ब्रजभाषा के बड़े कुशल-लेखक तथा कवि थे। पिता द्वारा भारतेन्दु जी को बाल्यावस्था में ही काव्यानुरक्ति हुई। सर्व-प्रथम इनकी प्रतिभा ने कविता-कानन में ही विहार किया। युवाकाल में पदार्पण करते करते इन्होंने साहित्य के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में अपनी छाप लगा दी। बङ्गला से रूपान्तरित "विद्या सुन्दर" नाटक आपकी पहली कृति है। इसके उपरान्त आपने "वैदकी हिंसा हिंसा न भवति" शीर्षक एक मौलिक प्रहसन लिखा। फिर तो 'कर्पूर-मञ्जरी', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली नाटिका' 'भारत दुर्दशा', 'अन्धेर नगरी', 'नील देवी' आदि कई नाटकों का प्रणयन किया। ये नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक सभी वर्ग के हैं।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

देश इस समय शिक्षा की ओर द्रुतवेग से अग्रसर हो रहा था। साहित्य के प्रति शिक्षित वर्ग की परिवर्धित अभिरुचि को निहार कर और सम्भवतः बँगला के नाटक उपन्यासों की ओर दृष्टि डाल कर ही उपरोक्त नाटकों की रचना हुई। भारतेन्दु जी ने अपने छोटे से साहित्यिक जीवन में तीन पत्रिकाएँ निकालीं 'कवि वचन सुधा' 'हरिश्चन्द्र मेग्ज़ीन' अथवा 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'बाला बोधिनी'। आप स्त्री-शिक्षा के प्रबल पक्षपाती थे। 'बालाबोधिनी' का जन्म स्त्रियों में शिक्षा प्रचार करने के ही उद्देश्य से हुआ था। इन्होंने इतिहास विषयक पुस्तकें भी लिखीं। 'काश्मीर कुसुम' 'बादशाह दर्पण' लिख चुकने के बाद वे उपन्यास रचना की ओर झुके; किन्तु उनके शीघ्र परलोक-गमन से कोई उपन्यास पूर्ण रूप से देखने को न मिला।

भारतेन्दु जी की प्रतिभा का विकास सर्वतोमुखी था। आपने भाषा और साहित्य दोनों का ही रूप सँवारा। काव्याराधन में सन्लग्न रहते हुए भी उन्होंने गद्य की भाषा का जैसा महत्वपूर्ण परिमार्जन किया है, वह वास्तव में उन्हीं का काम है। उनके नाटकों से हिन्दी में एक नवीन क्षेत्र की स्थापना हुई। समाज का जीवन अब जिस प्रकार अधिक शिक्षित और सुसंस्कृत हो रहा था, साहित्य उतना उन्नत न हो पाया था। समाज से साहित्य पिछड़ रहा था। भारतेन्दु के मौलिक नाटकों से जन-रुचि सन्तुष्ट हुई तथा समाज और साहित्य के मध्य सन्धि स्थिर हुई।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

अनेक लोगों के मत में भारतेन्दु ने गद्य की सेवा गौण रूप से ही की है। उनका प्रधान व्यक्तित्व कवि और नाटककार का ही है। किन्तु तब भी उनके नाटकों का गद्य उनकी हिन्दी-विषयक सिद्धनात रूप से स्वीकृत शैली का परिचायक है। उर्दू और संस्कृत दोनों के ही आवरण से हिन्दी के वास्तविक परिधान की आपने रक्षा की है। हिन्दी को राष्ट्रीय रँग से रँगने का सङ्कल्प धारण किये हुए देश-हितैषी भारतेन्दु जी को राजा शिवप्रसाद की उर्दू-दानी अत्यन्त हेय मालूम होती थी। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने उर्दू को कोई स्थान दिया ही नहीं। भारतेन्दु सदृश व्यक्ति से भाषा विषयक किसी प्रकार का पक्षपात सम्भव न था। आपने उर्दू शब्दों का व्यवहार किया किन्तु एक नवीन सुन्दरता से। उर्दू में प्रयुक्त शब्दों को पहले आपने खड़ी बोली का हिन्दी स्वरूप दिया और अपनी हिन्दी विषयक राष्ट्रीय भावना की रक्षा करते हुए उनका व्यवहार किया।

'कफ़न' 'कलेजा' 'जाक़त' 'ख़ज़ाना' आदि शब्दों के नीचे आप बिन्दु नहीं लगाते थे। इसी प्रकार संस्कृत के भी तत्सम शब्दों के स्थान पर आपने सुन्दर तत्भव शब्द ही प्रयुक्त किये हैं, जैसे 'हिया' 'भलेमानुस' 'आपुस' 'लच्छन' 'आँचल' 'जोबन' 'अचरज' आदि। जिन बाहरी शब्दों को आपने मिलाया है वे आज हिन्दी के निजी हो गये हैं। आपके इस सदुद्योग से हिन्दी में स्थिरता के साथ-साथ समीचीनता आ गयी।

वास्तव में इस दृष्टि से आपका स्थान अत्यन्त महान् है। उर्दू और संस्कृत के बीच सन्धि-स्थल बनाने में और इन दोनों शैली विषयक प्रभावों में परस्पर ग्रन्थि-बन्धन करने में आप ही पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। इन सब कारणों से हम कह सकते हैं कि भाषा का मार्जन जैसा कुछ भारतेन्दु जी के हाथों हुआ है वैसा आपके पूर्ववर्त्ती अथवा समसामयिक साहित्यकारों में से किसी ने भी नहीं किया। आपकी लिखी हिन्दी में शिष्टता और नागरिकता है। यहाँ हमें प्रतापनारायण मिश्र की सी ग्रामीणता नहीं मिलती। नाटकों की भाषा और कथोपकथन सरस, भावमय, कोमल और सरल हैं।

भारतेन्दु जी ने गद्य में काव्य का सौन्दर्य लाकर एक नयी प्रकार की सजीविता प्रवाहित की है जिसके द्वारा जन साधारण की रुचि उर्दू से हटकर हिन्दी की ओर आकृष्ट हुई। आपने ही सर्वप्रथम गद्य की भाषा में हास्य के साथ व्यङ्ग का पुट दिया। भावों की सम्यक व्यञ्जना के साथ हास्य और व्यङ्ग की बानगी इनकी शैली में मिलती है। अस्तु, आपकी भाषा में पहली बार वे सब लक्षण देखने को मिले जो आधुनिक गद्य के जीवनदायक अणु कहलायेंगे। आपकी शैली में भावोद्वेग है और गम्भीरता भी; हाँ, तथ्य-निरूपण करते समय उसमें प्रौढ़ता के साथ क्लिष्टता भी आ गयी है। इनकी शैली की यह विशेषता थी कि वह सरस, परिमार्जित, और सहृदय होते हुए भी देशकाल के सर्वथा अनुकूल है। 'हरिश्चन्द्री हिन्दी', और भारतेन्दु जी के सम्पर्क

ने कई लेखक और कवि उत्पन्न किये। उन मित्रों और सहयोगियों का खासा 'हरिश्चन्द्र मंडल' बन गया। राजनैतिक उलट-फेर के पश्चात् देश में जो सामयिक सामाजिक परिवर्तन की बयार बही और उसके प्रभाव से देश की भाषा, भाव, रुचि आदि में एक नवीनता के साथ-साथ शिक्षित वर्ग की भावनाओं में जो राष्ट्रीयता व्यापक हुई, उन सबका 'सम्यक आधार' हरिश्चन्द्र मण्डली के ज़िन्दा-दिल लेखकों की लेखनी का ही कौशल है।

हरिश्चन्द्र-मण्डल

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के अवसान के बाद उनकी मण्डली के देदीप्यमान रत्नों ने उनके निर्देशित क्षेत्र पर हिन्दी की श्रीवृद्धि की। बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'; प्रताप नारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवास दास, बाबू तोताराम, अम्बिकादत्त व्यास आदि के नामों का उल्लेख भारतेन्दु जी के साथ ही होना चाहिए। उन्होंने अपने जीवन में भाषा का जो स्वरूप स्थिर कर दिया था उसके अनुरूप अब गद्य के विकास की आवश्यकता थी। शिक्षा का सम्यक प्रचार-प्रसार हो जाने से अब ज्ञान के विभिन्न क्षेत्र झलकने लगे थे। आलेख विषयों की भी वृद्धि हुई। इतिहास और स्त्री-शिक्षा पर स्वयम् भारतेन्दु जी अपनी लेखनी सञ्चालित कर चुके थे, अतः गद्य के विकास के प्रमुख प्राङ्गण-निबन्ध-रचना—की ओर बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र अग्रसर हुए।

गद्य के अभ्युत्थान में सन्लग्न उपरोक्त लेखकों ने पत्र-पत्रिकाएँ सञ्चालित कीं और सम्पादन-कार्य में प्रवृत्त हुए। इन पत्र-पत्रिकाओं द्वारा गद्य की विभिन्न शैलियाँ उदित हुईं और हिन्दी में प्रौढ़ता आने लगी। उस समय के कुछ पत्रों की तालिका यहाँ दी जाती है।

अल्मोड़ा अख़बार	(सम्पादक	सदानन्द सलवाल)
हिन्दी दीप्ति प्रकाश	(,,	कीर्तिप्रसाद खत्री)
बिहार-बन्धु	(,,	केशवराम भट्ट)

सदादर्श	(सम्पादक	श्रीनिवासदास)
काशी पत्रिका	(,,	लक्ष्मीशङ्कर मिश्र)
भारत-बन्धु	(,,	बाबू तोताराम
भारत-मित्र	(,,	रुद्रदत्त)
मित्र-विलास	(,,	कन्हैयालाल)
हिन्दी-प्रदीप	(,,	बालकृष्ण भट्ट)
सारसुधानिधि	(,,	सदानन्द मिश्र)
उचित वक्ता	(,,	दुर्गाप्रसाद मिश्र)
सज्जन-किर्ति-सुधाकर	(,,	वंशीधर)
आर्य-दर्पण	(,,	बख्तावर सिंह)
भारत सुदशा प्रवर्तक	(,,	गणेशप्रसाद)
आनन्द कदम्बिनी	(,,	बद्रीनारायण चौधरी)
कविकुल-कञ्ज दिवाकर	(,,	रामनाथ शुक्ल)
दिनकर प्रकाश	(,,	रामदास वर्मा)
धर्म दिवाकर	(,,	देवकीनन्दन त्रिपाठी)
प्रयाग-समाचार	(,,	देवीसहाय)
पीयूष प्रवाह	(,,	अंबिकादत्त व्यास)
ब्राह्मण	(,,	प्रतापनारायण मिश्र)
भारत-जीवन	(,,	रामकृष्ण वर्मा)
भारतेन्दु	(,,	राधाचरण गोस्वामी)
शुभचिन्तक	(,,	सीताराम)
सदाचार मार्तंड	(,,	लालचन्द्र शास्त्री)
हिन्दोस्थान	(,,	राजा रामपालसिंह)

इनमें से 'ब्राह्मण', 'हिन्दी प्रदीप', 'हिन्दी कादम्बिनी', शुद्ध साहित्यिक पत्र थे। 'भारत-मित्र', 'बिहार-बन्धु', 'आर्य-दर्पण' और 'हिन्दुस्तान' ने भी हिन्दी की अच्छी सेवा की। अन्य अनेक पत्रों

का जीवन बहुत छोटा रहा। 'भारत-बन्धु', 'पीयूष-प्रवाह' और 'भारत-जीवन' का भी नाम उल्लेखनीय है।

प्रतापनारायण मिश्र

कानपुर के प्रतापनारायण मिश्र यद्यपि भारतेन्दु से लेखन कला सम्बन्धी बड़ी घनिष्टता मानते थे किन्तु फिर भी आपकी शैली उनका अनुगमन नहीं करती है। इनकी भाषा विनोद, कटूक्तियों और कहावतों की वशवर्तिनी है; अतः इसमें भारतेन्दु जी की शिष्टता और नागरिकता नहीं है। प्रतापनारायण मिश्र एक मौजी और प्रेमी जीव थे। शहर में रहते हुए वे शहर के आचार व्यवहार की कृत्रिमता से दूर रहते थे। उनकी ग्रामीणता-प्रधान भाषा में मार्मिक हास्य रहता था। उनकी जैसी वाग्विदग्धता उस समय तक के किसी भी लेखक में नहीं मिलती है। वे केवल साहित्यिक ही न थे, वरन् एक उद्भट समाज-सुधारक और सार्वजनिक जीवन में तत्पर रहने वाले एक विनोदी नागरिक भी थे। 'ब्राह्मण' में साहित्यिक वार्ता के साथ-साथ मनोरञ्जन-मिश्रित समाज-शिक्षा रहती थी। आपके लिखे निबन्धों की भाषा में प्रौढ़ हास्य, रोचकता और सुबोधता निखरा करती थी। इनकी शैली में पाठकों के प्रति एक आत्मीयता निहित है। प्रतापनारायण मिश्र का सैयद इंशाअल्ला से एक दिशा में शैली विषयक साम्य स्थिर किया जा सकता है। उनके द्वारा सृजित साहित्य में हमें उनका व्यक्तित्व और एक विचित्र चमत्कार मिलता है। उनके लेख विभिन्न-विषयक होते थे। यह समझना भूल है कि उनकी शैली नितान्त हास्यरसात्मक है। गम्भीर विषयों पर लिखते हुए आपने बड़ी संयत और सचिक्कण भाषा व्यवहृत की है। उनके लिखे लेखों के शीर्षक से विषय-विभिन्नता और विचि-

प्रतापनारायण मिश्र

त्रिता दोनों ही लक्षित हैं, जैसे—'समझदार की मौत है' 'मरे का मारैं शाहमदार' 'इसे रोना समझो चाहे गाना' 'बात', 'वृद्ध', 'भौं, 'धोखा,' आदि। 'दशहरा' और 'मुहर्रम' शीर्षक लेख के निम्नाङ्कित अवतरण से उनके मर्मभेदी विनोद-शील होने का परिचय मिलता है—

"यह तो समझिये यह देश कौन है? वही न? जहाँ पूज्य मूर्त्तियाँ भी, दो एक को छोड़, चक्र वा त्रिशूल वा खड्ग वा धनुष से खाली नहीं है, जहाँ धर्म-ग्रन्थ में भी धनुर्वेद मौजूद है, जहाँ शृङ्गार रस में भी भूचाल और कटाक्ष बाण, तेग़—अदा व कमाने अब्रू—का वर्णन होता है। यहाँ से लड़ाई-भिड़ाई का सर्वथा अभाव हो जाना मानो सर्वनाश हो जाना है। अभी हिन्दुस्तान में कोई वस्तु का निरा अभाव नहीं हुआ। सब बातों की भाँति वीरता भी लस्टम-पस्टम बनी ही है; पर क्या कीजिये, अवसर न मिलने ही से 'बँधे बछेड़ा कट्टर होइगे बइठे ज्वान गये तोंदिआय।'"

उपरोक्त उद्धरण से उनकी सजीव प्रकृति झलकती है, किन्तु अधिकतर इनमें तार्किकता अथवा मननशीलता का अभाव ही देख पड़ता है। शैली अवश्य एक विशेष प्रकार के चमत्कार से पूर्ण है। उन्होंने गम्भीर विषयों पर भी लिखा है, जैसे—'काल,' 'स्वार्थ,' 'शिव-मूर्ति' 'सोने का डण्डा' और 'पौंडा' आदि। यहाँ पर उनके 'शिवमूर्ति' का आरम्भिक अंश दिया जाता है।

"हमारे ग्राम-देव भगवान भूतनाथ अकथ्य अप्रतर्क्य एवं अचिन्त्य हैं। तौ भी उनमें भक्तजन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप, गुण, स्वभाव कल्पित कर लेते हैं। उनकी सभी बातें सत्य हैं। अतः उनके विषय में जो कुछ कहा जाय सब सत्य है। मनुष्य की भाँति वे नाड़ी आदि बन्धन से बद्ध नहीं हैं। इससे हम उनको निराकार कह सकते हैं और प्रेम-दृष्टि से अपने हृदय-मन्दिर में उनका दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं। यथा-तथ्य वर्णन उनका कोई नहीं कर सकता। तौ भी जितना जो कुछ अभी तक कहा गया

है और आगे कहा जावेगा सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बकबक है और विश्वास के आगे मन: शान्तिकारक सत्य है !!!

महात्मा कबीर ने इस विषय में कहा है वह निहायत सच है कि जैसे कई अन्धों के आगे हाथी आवे और कोई उसका नाम बता दे, तो सब उसे टटोलेंगे। यह तो सम्भव ही नहीं है कि मनुष्य के बालक की भाँति उसे गोद में ले के सब कोई अवयव का बोध कर लें। केवल एक अङ्ग टटोल सकते हैं और दाँत टटोलने वाला हाथी को खूँटी के समान, कान छूने वाला सूप के समान, पाँव स्पर्श करने वाला खम्भे के समान, कहेगा। यद्यपि हाथी न खूँटे के समान है और न खम्भे के। पर कहने वालों की बात झूठी भी नहीं है। उसने भली-भाँति निश्चय किया है और वास्तव में हाथी का एक अङ्ग वैसा ही है जैसा वे कहते हैं। ठीक यही हाल ईश्वर के विषय में हमारी बुद्धि का है। पूरा-पूरा वर्णन वा पूरा साक्षात् कर लें तो वह अनन्त कैसे और यदि निरा अनन्त मान के अपने मन और वचन को उनकी ओर से बिलकुल फेर लें तो हम आस्तिक कैसे ! सिद्धान्त यह कि हमारी बुद्धि जहाँ तक है वहां तक उनकी स्तुति-प्रार्थना, ध्यान, उपासना कर सकते हैं और इसी से हम शान्ति लाभ करेंगे।"

प्रतापनारायण की भाषा परिमार्जित नहीं है। विरामादि चिह्नों का प्राय: अभाव है। व्याकरण सम्बन्धी भूलें भी आपने की हैं और कहीं कहीं विचित्र लिपि-दोष भी है। उनके निबन्धों में अधिकतर पाण्डित्य-प्रदर्शन की वृत्ति नहीं है। इसके स्थान पर वे तरल हास्य के पेंदे में नैतिकता की शिक्षा जमा देते हैं।

बालकृष्ण भट्ट

बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र के समसामयिक थे। इन्होंने भी उसी कोटि के निबन्ध लिखे हैं। आपने अपनी शैली प्रवाह-युक्त बनाने में भाषा की शुद्धता की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। आपने उर्दू का आश्रय लिया और वह भी भारतेन्दु जी से कहीं अधिक आगे बढ़कर। फ़ारसी के

तत्सम शब्द प्रचुर मात्रा में, इनके लेखों में, बिँधे पड़े हैं। भाषा को व्यापक बनाने में आप इतने तल्लीन रहते थे कि आपने अनेक स्थलों पर अङ्गरेज़ी शब्दों में ही भाव प्रकाशन किया है। इनकी शैली में इनके व्यक्तित्व की अच्छी छाप है। इनका शब्द-भाण्डार अधिक शिष्ट है और समादृत है। आपके गद्य में काव्य की सुकुमारता और भाव-प्रवरता है। प्रतापनारायण मिश्र की भाँति इन्होंने भी अपने लेखों के विचित्र-विचित्र विषय चुने हैं—जैसे 'आँख' 'कान' 'नाक' 'बातचीत' आदि। इन्होंने 'कल्पना' 'आत्मनिर्भरता' शीर्षक गम्भीर भावात्मक लेख भी लिखे हैं। इनमें एक तीव्र साहित्यिक लगन थी। 'हिन्दी-प्रदीप' इनके ही सम्पादन में प्रकाशित होता था, जो क़रीब ३२ वर्ष तक अनवरत-रूप से हिन्दी की सेवा करता रहा। इस पत्र में विभिन्न विषय के लेख छपते थे।

'बालकृष्ण भट्ट'

आपके गद्य में कहावतों की अपेक्षा मुहाविरे-बन्दी अधिक रहती थी। मिश्रजी की अपेक्षा आपका हास्य भी अधिक तीखा होता था। इनके निबन्ध प्रायः छोटे होते थे और विशेषतया वे अङ्गरेज़ी शिक्षित जनता के लिए अच्छी पाठ्य-सामग्री होते थे। भट्ट जी के आलेख की कुछ बानगी निम्नाङ्कित अवतरण से मिल सकती है:—

"समाज के बन्धन में भी देखिये, तो बहुत तरह के संशोधन सरकारी क़ानूनों के द्वारा वैसे नहीं हो सकते, जैसे समाज के एक-एक मनुष्य के अलग-अलग अपने संशोधन अपने आप करने से हो सकते हैं।

"कड़े-से कड़े क़ानून आलसी समाज को परिश्रमी, अपव्ययी या

फ़िजूलख़र्ची को किफ़ायतशार या परिमित व्ययशील, शराबी को परहेज़गार, क्रोधी को शान्त या सहनशील, सूम को उदार, लोभी को सन्तोषी, मूर्ख को विद्वान, दर्पान्ध को नम्र, दुराचारी को सदाचारी कदर्य्य को उन्नतमना, दरिद्र भिखारी को धनाढ्य, भीरु-डरपोक को वीर-धुरीण, झूठे गपोड़िये को सच्चा, चोर को सहनशील, व्यभिचारी को एक-पत्नी-व्रतधारी, इत्यादि नहीं बना सकता; किन्तु ये सब बातें हम अपने ही प्रयत्न और चेष्टा से अपने में ला सकते हैं।

"सच पूछो, तो जाति या क़ौम भी, सुधरे हुए, ऐसे ही एक-एक व्यक्ति की समष्टि है। समाज या जाति का एक-एक आदमी, यदि अलग-अलग अपने को सुधारे, तो जाति-की-जाति या समाज-का-समाज सुधर जाय।"

"सभ्यता और है क्या ? यही कि सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य आबाल, वृद्ध, बनिता सबों में सभ्यता के सब लक्षण पाये जायँ। जिसमें आधे या तिहाई सभ्य हैं, वह जाति अर्द्ध-शिक्षित कहलाती है। क़ौमी तरक्क़ी भी, अलग-अलग एक-एक आदमी के परिश्रम, योग्यता, सुचाल और सौजन्य का मानो टोटल है। उसी तरह क़ौम की तनज़्ज़ुली क़ौम के एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थपरता और भाँति-भाँति की बुराइयों का ग्रैंड टोटल है। इन गुणों और अवगुणों को जाति-धर्म के नाम से भी पुकारते हैं, जैसे सिक्खों में वीरता और जङ्गली असभ्य जातियों में लुटेरापन।"

निबन्ध-रचना में भट्ट जी प्रतापनारायण मिश्र से बौद्धिकता के क्षेत्र में अधिक उच्च नहीं ठहरते हैं। उनके लेखों के विषयों का क्षेत्र अधिक व्यापक है। उनके विचित्र लेखों में 'भकुआ कौन कौन है', 'नाक निगोड़ी भी बुरी बला है', 'ईश्वर क्या ही ठठोल है' शीर्षक लेखों का उल्लेख होता है। 'चरित्र-शोधन', 'प्रेम और भक्ति' शीर्षक लेख गम्भीर और शिक्षाप्रद हैं। उनके कल्पना-प्रसूत लेख यद्यपि अत्यधिक महत्व के हैं किन्तु उनमें मिश्रजी की जैसी सजीविता और तरलता नहीं है।

प्रतापनारायण मिश्र की शैली-निर्झरणी चाहे कितनी टेढ़ी-मेढ़ी क्यों न कही जाय, उसके पास बैठ कर बाद के अनेक लेखकों ने जीवन ग्रहण किया और प्रथक रूप से उनके पद-चिन्ह-उपासक कहलाये; किन्तु ऐसी किसी विशेषता के दर्शन हमें भट्टजी की कृतियों में नहीं मिलते।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन'

'प्रेमधन' जी मिर्ज़ापुर निवासी थे। स्वाभाविक साधारण रूप से कुछ लिखना शायद आप निस्सार समझते थे। बड़े लम्बे-लम्बे वाक्यों में लेखनी का चमत्कार दिखाना उनका अभीष्ट रहता था। "वे कोई लेख लिख कर जब तक उसका कई बार परिष्कार और मार्जन नहीं कर लेते थे तब तक छपने नहीं देते थे"। इस कारण इनकी शैली सबसे विलक्षण है। भाषा के सानुप्रास प्रयोग से इस में दुरूहता आ गयी है।

यह कहिये कि इस समय तक भारतेन्दु जी, मिश्र जी, भट्टजी आदि के प्रयास स्वरूप भाषा में यथेष्ट बल और व्यञ्जकता का समावेश हो चुका था, अन्यथा 'प्रेमधन' जी की शैली का कोई महत्व न रहता। आपने "आनन्द-कदम्बिनी" मासिक और "नागरी-नीरद" साप्ताहिक को जन्म दिया था। "भारत-सौभाग्य" और "वीराङ्गना रहस्य" नामक नाटक आपकी कृतियाँ हैं। नीचे के अवतरण से आपकी भाषा विषयक जानकारी मिल सकती है:—

बदरीनारायण चौधरी

"दिव्य देवी श्री महरानी बड़हर लाख झञ्झट झेल और चिरकाल पर्यन्त बड़े बड़े उद्योग और मेल से दुख के दिन सकेल अचल 'कोर्ट'

का पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गयीं। ईश्वर का भी कैसा खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुख की रेल-पेल और कभी उसी पर सुख की कलोल है।"

उक्त वाक्य में एक अत्यन्त साधारण घटना अर्थात् रानी बड़हर के कोर्ट आफ़ वार्ड्स से गद्दी पाने की ओर सङ्केत है। यह आपके पत्र की समाचार-सामिग्री की भाषा है। 'प्रेमधन' जी इस भाँति की वाक्य-रचना में अभ्यस्त थे। इन्होंने भाषा को जनसाधारण के लिए बोधगम्य होने की ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा। आपमें भाषा के परिमार्जन की एक सनक सी थी, जिसके वशवर्त्ती होकर आपके हाथ से भाषा का चलताऊपन नष्ट हुआ जाता था। शब्द-चयन सुन्दर होने से यद्यपि शैली में बर्बरता नहीं आयी है, किन्तु वह अनगढ़ अवश्य हो गयी है। उस काल में हिन्दी गद्य इतना अधिक विकसित नहीं हुआ था कि साधारण समाचार भी ललित और अनुप्रासिक भाषा में प्रकाशित होते। वास्तव में जिस प्रकार आपने भाषा को सँवारा वह उद्देश्यहीन कहा जा सकता है। आपके लम्बे लट्ठमारू वाक्य में प्रवाह के स्थान पर शिथिलता और झटके हैं, तथा शब्दालङ्कारिकता भी कर्कश है। आपके लिखे शीर्षक तक, काव्योपम रूप लिये रहते थे। ऊपर के अवतरण में यदि आप कर सकते तो "कलोल" को भी अनुप्रास भिड़ाने के लिए "कलेल" कर डाला होता। वास्तव में आपके लेखों में वाक्यों के बड़े बड़े लोथड़े बहते, अटकते और उछलते चलते हैं।

. आपने एक कार्य विशेष महत्व का किया है। आलोचनात्मक लेख के यह प्रथम हिन्दी लेखक माने जाते हैं। 'बङ्ग-विजेता' तथा 'संयोगिता-स्वयम्वर' की आपने विशद और तीव्र आलोचनाएँ लिखी हैं, यद्यपि ये रचनाएँ बहुत पुराने ढङ्ग की हैं। वास्तव में, जिस युग में 'प्रेमघन' जी हुए हैं, उस युग की हिन्दी की शैली के साहित्यिक विकास में, इनका बहुत कम अंश है और साहित्यिकों में आपका कोई स्थान नहीं है।

भारतेन्दु जी के सहवर्ती लेखकों में श्रीनिवासदास का नाम भी आता है। इन्होंने 'परीक्षा गुरु' नामक हिन्दी का उपन्यास लिखा और

श्री निवासदास

'तप्ता सम्वरण', संयोगिता-स्वयम्वर' और 'रणधीर-प्रेममोहिनी' नाटक लिखे हैं। इनकी भाषा में अपनी मण्डली के अन्य लेखकों की अपेक्षा फ़ारसी के तत्सम शब्दों का अधिक जमघट है। अन्य उपरोक्त लेखकों ने खड़ी बोली गद्य में उर्दू का प्रवेश मन्द कर दिया था; श्रीनिवास दास ने अपनी शैली में उर्दू की प्रबलता को रोकते हुए एक बार फिर इसका संयत व्यवहार किया। इनके उपन्यास की हिन्दी इस कारण से सुबोध और प्रवाहयुक्त है, किन्तु यह शुद्ध कहलाने योग्य नहीं है। अभी तक प्राय: सभी लोगों ने व्याकरण के नियमों में मनमानी खींचातानी की थी। लाला जी भी इस नियम के अपवाद न हो सके। आपके वाक्यों में दिल्लीवाल शब्दों का पैवन्द लगा मिलता है। आपने बहुधा अङ्गरेज़ी ढङ्ग पर वाक्य-योजना भी की है जैसा कि नीचे दिये हुए वाक्य से स्पष्ट है—

"मुझे आपकी यह बात बिलकुल अनोखी मालूम होती है। भला, परोपकारादि शुभकार्यों का परिणाम कैसे बुरा हो सकता है?" पण्डित पुरुषोत्तमदास ने कहा।

इनके नाटकों की शैली समुचित वार्त्तिक और भारतेन्दु जी की परिपाटी की है। आपके सभी ग्रन्थों में प्राय: आपके अनुभवशील व्यक्तित्व और बहुज्ञता का परिचय मिलता है। मुहाविरों के प्रयोग से इन्होंने भी अपनी शैली सजीव की है। आप के लेखों में विनोद, व्यङ्ग अथवा चमत्कारिक वाक्य-विन्यास न होने पर भी, सुबोधता, व्यावहारिकता और रोचकता रहती थी; फिर भी आपका स्थान साधारण कोटि के लेखकों ही में गिनना चाहिए।

ठाकुर जगमोहन सिंह के उल्लेख बिना 'भारतेन्दु मण्डली' की चर्चा

अधूरी रह जायगी। आप विजयराघवगढ़ के राजकुमार और बाबू हरिश्चन्द्र के निकट मित्र थे। ठाकुर साहब संस्कृत के विद्वान थे और अङ्गरेजी के भी अच्छे ज्ञाता थे। विद्वान और सहृदय जगमोहन सिंह ने सुन्दर गद्य-

ठाकुर जगमोहन सिंह

ठाकुर जगमोहन सिंह

रचना की है। आपकी भाषा में काव्योपम माधुर्य के साथ, शैली की प्रौढ़ता है। आप का प्रकृति-वर्णन स्वाभाविक नैसर्गिकता लिये है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों मे इन्होंने "नरक्षेत्र के सौन्दर्य को प्रकृति के अपर क्षेत्रों के मेल में देखा है।"

भट्टजी की भाँति ठाकुर जगमोहनसिंह ने गद्य में जो काव्य की धारा बहायी है, उसका प्रवाह सरल वाक्य-रचना के क्षेत्र में अधिक ग्राही और सुस्थिर हुआ है। इनकी शैली में विरामादि चिह्नों का भी प्रयोग सम्यक रूप से हुआ है। आपके रचित 'श्यामास्वप्न' में हृदय-स्पर्शी सरसता है। एक छोटा सा उद्धरण आपके गद्य का परिचायक स्वरूप प्रस्तुत है।

"इस पावन अभिराम ग्राम का नाम श्यामापुर है। यहाँ आम के आराम, पथिकों और पवित्र यात्रियों को विश्राम और आराम देते हैं। * * * पुराने टूटे-फूटे दिवाले इस ग्राम की प्राचीनता के साक्षी हैं। ग्राम के सीमान्त के झाड़, जहाँ झुण्ड के झुण्ड कौए और बगुले बसेरा लेते हैं, गवँई की शोभा बताते हैं। पौ फटते और गोधूली के समय गैयों के खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानो कुहिरा गिरता हो।"

इतना परिमार्जन और शिष्टता होने पर भी हम उपरोक्त उदाहरण

में देखेंगे कि ठाकुर साहब 'अविराम', 'ग्राम', 'श्राम', 'आराम' और 'विश्राम' आदि शब्दों का जमघट इकट्ठा करके एक विशेष प्रकार का मार्दव उत्पन्न करना चाहते हैं, जिसमें बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की यमक-प्रियता झलकती है। इसने शैली की स्वाभाविकता बहुत कुछ नष्ट कर दी है। 'गवई'' और 'गैयों' शब्द का अनागारिक प्रयोग भी खटकता है।

अलीगढ़ के तोताराम जी वकील भी भारतेन्दु जी के समसामयिक थे। इन्होंने भी 'भारतबन्धु' नाम का एक पत्र निकाला था। भारतेन्दु जी के सम्पर्क से आप में हिन्दी के प्रति लगन उत्पन्न हुई थी। आप 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के प्रतिष्ठित लेखकों में गिने जाते थे। आपके लिखे नाटक इसी पत्रिका में प्रकाशित होते थे। इनके द्वारा सञ्चालित 'भाषा सम्वर्द्धनी सभा' उन दिनों की एक साहित्यिक गोष्ठी थी। आपने पहले 'केटी कृतान्त' नामक नाटक का अनुवाद किया। आपका दूसरा नाटक 'कीर्तिकेतु' है। आपका 'स्त्री-सुबोधिनी' नामक स्त्री-शिक्षा विषयक ग्रन्थ आज भी गृहस्थों की एक वस्तु है। आपकी भाषा साधारण और व्यावहारिक होती थी। हिन्दी गद्य की शैली के निर्माण में आपका विशेष व्यक्तित्व नहीं आँका जाता; क्योंकि आपने किसी प्रकार की नवीन उद्भावना नहीं प्रकट की है। आपकी शैली का भाषा के विकास की दृष्टि से कोई विशेष मूल्य नहीं है।

तोता राम

तोता राम

भारतेन्दु-मण्डल से सामीप्य प्राप्त केशवराम भट्ट, अम्बिकादत्त

व्यास, मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या तथा राधाचरण गोस्वामी का नाम हिन्दी के उन्नायकों में स्मरणीय है। केशवराम भट्ट ने बिहार प्रान्त से 'बिहार-बन्धु' नामक साहित्यिक सप्ताहिक पत्र द्वारा हिन्दी की सेवा की। आपने "सज्जाद सम्बुल" और "शमशाद सौसन" नामक दो नाटक भी लिखे। आपके उल्लेख में उर्दू की प्रधानता रहती थी, अतः इनके नाटक भी, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, उर्दू की ही तर्ज़ पर हैं।

भारतेन्दु के सहवर्त्ती कुछ अन्य लेखक

श्री अम्बिकादत्त व्यास संस्कृत के विद्वान् और हिन्दी के अच्छे कवि थे। आप उन दिनों सनातनधर्म के प्रसिद्ध उपदेशक थे। 'बिहारी-बिहार' नामक काव्य-ग्रन्थ में आपने बिहारी के दोहों की विशद-विवेचना की है। गद्य-साहित्य में आपका योग विशेष महत्व का न होते हुए भी आपकी छोटी-छोटी कई पुस्तकें मिलती हैं। उनमें से कुछ के नाम ये हैं 'गोसङ्कट नाटक' 'ललिता-नाटक,' गद्य-काव्य-मीमांसा'।

श्री राधाचरण गोस्वामी ने 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' से प्रोत्साहित हो 'भारतेन्दु' नामक पत्र निकाला। इनके लिखित गद्य-ग्रन्थ अधिकतर बङ्गलानुवाद ही हैं, फिर भी आपका 'विदेश-यात्रा-विचार' तथा 'विधवा-विवाह-विवरण' स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या आपके समय के प्रतिष्ठित पुरातत्व और इतिहास विषयक लेखक थे। आपने 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के सञ्चालन में सराहनीय योग दिया था। आपने अपनी कृति 'रासो-संरक्षा' से 'पृथ्वीराज रासो' की सत्यता का समर्थन किया है। इस कृति का वास्तव में अधिक ऐतिहासिक मूल्य नहीं है। आपने अपनी प्रतिभा अन्ध-विश्वास पर आश्रित रासो की व्यर्थ की प्रतिष्ठा स्थापित करने में व्यय की है।

भारतेन्दुकाल के साहित्योदय में जो प्रतिभाशाली आत्माएं प्रकाशान्वित हुईं, उनका पूरा परिचय उस समय तक न मिल सकेगा जब तक उनकी सामूहिक रूप से की गयीं सेवाओं की

ओर भी एक बार दृष्टि-विक्षेप न किया जाय। उस समय के पत्र-पत्रिकाओं का उल्लेख अन्यत्र हम कर चुके हैं; यहाँ इस बात के भी दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि 'हरिश्चन्द्र-मण्डल' के सभी सदस्यों का अपना अपना एक निजी पत्र था। इन पत्रों के प्रकाशन से गद्य-लेखन-शैली के सम्यक निरूपण में बड़ी सहायता मिली। अभी तक भारतेन्दु जी के ही निर्देशित क्षेत्र पर साहित्य की श्री-वृद्धि हो रही थी। लाहौर से कलकत्ता पर्यन्त प्रायः सभी नगरों से एक न एक पत्र प्रकाशित हो रहा था। क्रमशः भाषा-भाषियों का एक अच्छा क्षेत्र इन पत्र-पाठकों में ही तैयार होने लगा। शीघ्र ही भारतेन्दु जी के उल्लिखित मित्रों की सजीविता और जिन्दा-दिली से विभिन्न-विषयक गद्य-सामग्री का निर्माण दृष्टिगत होने लगा।

भारतेन्दु मण्डली की सामूहिक सेवाएँ

शिक्षा के सम्यक प्रसार और समाज-विज्ञान की विभिन्न धाराओं का क्रमशः विकास हो जाने से स्त्री-शिक्षा, इतिहास, भूगोल, पुरातत्व, आयुर्वेद, धर्म आदि की किसी न किसी प्रकार की गवेषणापूर्ण कही जाने वाली विवेचना अब आरम्भ हो गयी थी। प्रौढ़ गद्य में नाटक, उपन्यास, समालोचना आदि का समावेश हो ही चुका था। धीरे-धीरे अन्यान्य विचारात्मक और वर्णात्मक विषयों की ओर साहित्यिकों की रुचि झुकी और गद्य-काव्य, यात्रा-वर्णन आदि धड़ल्ले के साथ सामयिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे। यद्यपि स्वयं भारतेन्दु जी की भाषा में व्याकरण की भूलें रहती थीं तथापि हिन्दी का वास्तविक अभ्युत्थान, सच पूछा जाय, तो इसी युग में हुआ।

प्रतापनारायण मिश्र तथा उनके अन्य सहयोगी एक-एक संस्था के सदृश थे। यद्यपि यह कहना ठीक है कि भारतेन्दु-काल के साहित्य-सेवियों में स्वयं भारतेन्दु को छोड़ अन्य लेखक यदि आज हुए होते

तो वस्तु अथवा शैली की आधुनिक कसौटी पर कदाचित ही कोई टिक सकता; किन्तु अपने युग में ये लोग अवश्य महत्व रखते हैं। इन साहित्य मनीषियों ने विभिन्न केन्द्रों में अपना अपना क्षेत्र निर्धारित कर लिया और असीम तत्परता तथा लगन से वे हिन्दी की उन्नति में लीन हो गये।

प्रतापनारायण मिश्र "हिन्दी-हिन्दू, हिन्दुस्तान" की भेरी बजाते हुए स्थान-स्थान पर व्याख्यानों द्वारा हिन्दी प्रचार करते थे। गौरीदत्तजी नागरी प्रचार का झण्डा लिये दौड़ा करते थे। आपने 'गौरी नागरीकोष' नामक एक शब्दकोष भी तय्यार किया। स्थान स्थान पर भारतेन्दु जी के नाटकों का बहुत काल तक अभिनय होता रहा। हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों की उपयोगिता पर, सर्वत्र, आये दिन व्याख्यान हुआ करते थे।

इस समय के प्रायः समस्त हिन्दी के हिमायती इसे कोर्ट-भाषा बनाने के लिए अधिक परिश्रम कर रहे थे। कई स्थानों पर हिन्दी-प्रचार के लिए सभा-समितियाँ स्थापित हुई। तोताराम की 'भाषा सम्बर्द्धिनी सभा' की भाँति प्रयाग में भी "हिन्दी उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्यसभा" और कालान्तर में "काशी नागरी प्रचारिणी सभा" की स्थापना हुई। प्रान्तीय शासकों के पास आये दिन डैप्यूटेशन और मैमोरैण्डम पहुँचा करते थे। सारांश यह कि हिन्दी के उन्नायकों ने इस समय नागरी प्रचार के लिए असीम त्याग और सतत-उद्योग किये और इस प्रकार राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत हिन्दी-प्रचार ने उत्तरोत्तर विशदता धारण की।

काशी के श्यामसुन्दरदास, रामनारायण मिश्र, और शिवकुमार सिंह ठाकुर आदि ने अपने छात्र जीवन में ही हिन्दी-प्रचार का

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

बीड़ा उठाया और 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा" की स्थापना की। "इस सभा की सारी समृद्धि और कीर्ति श्यामसुन्दरदास

जी के त्याग और सतत परिश्रम का फल है।" आरम्भ में इस सभा के कार्य-कलाप में राधाकृष्णदास, लक्ष्मीशङ्कर मिश्र; रामदीन सिंह, रामकृष्ण वर्मा, गदाधरसिंह और कीर्तिप्रसाद खत्री ने सहयोग और सहायता दी। इस सभा का उद्देश्य था नागरी प्रचार और साहित्य की श्रीवृद्धि। सभा ने अपने आरम्भिक काल में नागरी-प्रचार द्वारा हिन्दी साहित्य के प्रणयन तथा प्रकाशन में असाधारण योग दिया। कुछ ही दिनों में इसकी सेवाओं के फलस्वरूप जनता का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ और विभिन्न नगरों में इसकी शाखाएँ देख पड़ने लगीं।

संवत् १९५५ में एक बड़ा प्रभावशाली डैप्युटेशन नागरी का मैमोरियल लेकर लाट साहब से मिला। इस डैप्युटेशन में आवागढ़, अयोध्या और माँडा के राजा तथा महामना मदनमोहन मालवीय जैसे हितैषी व्यक्ति गये थे। मालवीय जी ने "अदालती लिपि और प्राइमरी शिक्षा" नामक अङ्गरेजी में एक पुस्तक भी लिखी और नागरी को न्यायालय की भाषा से वहिष्कृत रखने से प्रजा पर होने वाले अहित पर विस्तृत प्रकाश डाला। नागरी की उपयोगिता से शासकों को प्रभावित करने और उसे अदालती लिपि बनाने के आन्दोलन के नायक महामना मालवीय जी ही थे। आज भी आप विश्वविद्यालयों में हिन्दी को उच्च शिक्षा-प्रणाली का माध्यम बनाने को तत्पर हैं। अन्त में यह दीर्घकाल-व्यापी आन्दोलन सफल हुआ और संवत १९५७ में अदालती लिपि में नागरी-प्रवेश की घोषणा प्रकाशित हुई।

संवत १९५७ तक का समय हिन्दी के उत्थान का पहला युग माना जाता है। इस युग में गद्य के विकास पर सिंहावलोकन की दृष्टि से एक बार इस समय की प्रकाशित रचनाओं का उल्लेख करना समीचीन समझ पड़ता है।

इस युग की कुछ कृतियाँ

उपन्यास

श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा गुरु' पहला मौलिक उपन्यास है। इसके बाद राधाकृष्णदास का

'निस्सहाय हिन्दू', बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' प्रकाशित हुए। बङ्गला में इस समय भी उपन्यास-रचना प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी, तथा वे अपेक्षाकृत उच्च श्रेणी के भी होते थे। अतएव इन ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों का शीघ्र अनुवाद किया जाने लगा।

बाबू गदाधरसिंह ने 'बङ्गविजेता' और 'दुर्गेशनन्दिनी' का अनुवाद किया। राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता, तथा अन्य छोटे-छोटे कई अनुवाद किये। प्रतापनारायण मिश्र के 'राजसिंह', 'इन्दिरा', 'राधारानी' तथा 'युगुलाङ्गुलीय' अनुवादित उपन्यास हैं। राधाचरण गोस्वामी ने भी इन्हीं दिनों 'विरजा' 'जावित्री' और 'मृणमयी' का अनुवाद किया। कुछ ही समय में बङ्गला से अनुवादित उपन्यासों का ढेर जमा होने लगा और इसकी गति बहुत दिनों तक वेगवती रही। इसी काल के उत्तरार्ध में रामकृष्ण वर्मा अपनी वृत्तान्त-माला को लेकर अवतीर्ण हुए और कार्तिकप्रसाद खत्री ने "इला" "प्रमीला" 'जया' और 'मधुमालती' प्रकाशित कीं। पूर्वोक्त मिश्रजी और गदाधरसिंह की भाषा इस युग की सरल संस्कृत-प्रधान हिन्दी थी। मिश्रजी के उपन्यासों की भाषा उतनी रोचक और चटपटी नहीं है जैसी कि उनके साधारणतया मौलिक गद्य में होती थी। अनुवाद- ग्रन्थ होने से यहाँ पर आपकी भाषा अपेक्षाकृत संयत और शिष्ट है। इन उपन्यासों में बङ्गला के मुहाविरे और अनेक शब्द तक यथारूप मिलते हैं।

नाटक

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जब नाटकों का प्रणयन आरम्भ किया उस समय मौलिक नाटकों का प्रायः अभाव था। उन्होंने ब्रजभाषा के केवल दो नाटक "आनन्द रघुनन्दन" और 'नहुष' को मौलिक स्वीकार किया है। आपने अल्प समय में ही एक दर्जन से अधिक नाटक और प्रहसन लिख दिये।

भारतेन्दु के मौलिक नाटक निम्नलिखित हैं:—"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति," "विषस्य विषमौषधम्", "चन्द्रावली", "भारत-

दुर्दशा", "नील-देवी", "अन्धेर नगरी", "प्रेम योगिनी," "सती प्रताप" (अपूर्ण)।

अनुवादित नाटकों के नाम ये हैं:—'विद्यासुन्दर', 'पाखण्डविडंबन,' 'धनञ्जय-विजय', 'कर्पूर-मञ्जरी', 'मुद्राराक्षस', 'सत्यहरिश्चन्द्र'। रामचन्द्र शुक्ल की सम्मति में यह बङ्गलानुवाद है।

भारतेन्दु जी की परिपाटी पर प्रतापनारायण मिश्र ने भी नाटक रचना की। उनके मौलिक नाटकों की नामावली नीचे दी जाती है—'कलिकौतुक रूपक', 'कलिप्रभाव', 'हठी हमीर', 'गोसङ्कट', 'जुवारी-खुवारी'। बदरीनारायण चौधरी ने 'भारत-सौभाग्य', 'वीराङ्गना-रहस्य', 'वृद्ध-विलाप' तथा 'प्रयाग समागमन' लिखा। श्रीनिवासदास के 'रणधीर-प्रेम-मोहिनी,' संयोगिता-स्वयम्वर,' और 'तप्तासम्वरण' तथा तोताराम के 'केटो-कृतान्त' का उल्लेख अन्यत्र हो ही चुका है। अम्बिकादत्त व्यास के 'गोसङ्कट नाटक' 'ललिता नाटक,' 'मरहट्टा नाटक,' 'भारत सौभाग्य' तथा राधाकृष्ण दास का 'दुःखिनी बाला', "महाराणा प्रताप" भारतेन्दु परिपाटी के अन्तर्गत ही गिने जायँगे।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतेन्दु-काल बहुत अंशों में हिन्दी नाटकों का प्रथम रचनाकाल कहा जा सकता है। किन्तु इन नाटकों में भारतेन्दु-कृत, तथा दो एक को छोड़ कर, शेष सब साधारण रूपक हैं; जिनमें सुन्दर चरित्र-चित्रण, फुर्तीले कथोपकथन, जीवन के घात-प्रतिघात के स्थलों का सर्वथा अभाव है।

प्रबंध लेखन

भारतेन्दु के सहवर्ती विभिन्न विषयों पर प्रबन्ध-लेखक भी थे। इनके सभी आलेख-विषय यद्यपि विवेचनापूर्ण अथवा गूढ़ विचारात्मक नहीं होते थे फिर भी इनकी रचनाओं में प्रौढ़ गद्य का आभास मिल जाता है। किन्तु नाटकों और उपन्यासों की भाँति प्रबन्ध-लेखन-धारा वेग न धारण कर पायी और इसमें परम्परा से शीघ्र शिथिलता आ गयी। वस्तुतः हिन्दी में निबन्ध-लेखकों की संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती थी। इस

परम्परा को जीवित रखने वालों के नाम हैं—माधवप्रसाद मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी और गोविन्दनारायण मिश्र। हरिश्चन्द्र-युग की इतनी समीक्षा के बाद आगे इस युग के परवर्ती तथा वर्तमान गद्य-लेखकों की चरचा की जाती है।

गोविन्दनारायणमिश्र

गोविन्दनारायण मिश्र संस्कृत के धुरन्धर पण्डित थे। इनकी गद्य-लेखन-शैली को 'धुरन्धर' विशेषण से विभूषित करना चाहिए। आपकी जैसी दीर्घ समासान्त पदावली किसी भी पूर्ववर्ती अथवा वर्तमान हिन्दी लेखक में न मिलेगी। इनकी भाषा 'प्रेमधन' जी के अनुरूप गद्य-काव्यात्मक होती थी। आपका भाव-प्रकाशन ऐसा पाण्डित्यपूर्ण होता था कि वह केवल साधारण बुद्धि वालों के लिए ही बोधगम्य न था, वरन् साहित्यिक क्षमतावान् पुरुषों के लिए भी कर्कश और दुरूह था। इनकी धुआँधार काव्यात्मक भाषा से पाठकों को गद्य के प्रति अरुचि सी होने लगे तो आश्चर्य नहीं वास्तव में आपकी भाषा सम्बन्धिनी अव्यवहारिकता देखते ही बनती है। केवल एक ही वाक्य से उल्लिखित विशेषता का परिचय मिल जायगा:—

गोविन्द नारायण मिश्र

"परम वदान्य मान्यवर कवि कोविद तो सुधावारिद से सब पर समभाव से खुले जो खुले हाथों सरस बरसाते हैं, परन्तु सुरसिक समाज पुष्पवाटिका किसी प्रान्त में पतित ऊसर समान मूरखचन्द्र मन्दमति मूर्ख और अरसिकों के मन-मरुस्थल पर भाग्य व सुसंसर्ग प्रताप से निपतित उन सुधा से सरस बूँदों के भी

अन्तरिक्ष में ही स्वाभाविक विलीन हो जाने से बिचारे उस नवेली नव रस से भरी बरसात में भी उत्तप्त प्यासे और जैसे थे वैसे ही शुष्क नीरस पड़े धूल उड़ाते हैं।" उपरोक्त अवतरण से यह स्पष्ट है कि लेखक अपने मानसिक चिन्तन के अभाव को शब्दों की भूल-भुलैय्याँ उपस्थित करके दुरूह शैली में छिपाना चाहता है। लेखक को कहना कुछ नहीं आता, कहने का ढोंग दिखलाना आता है। हाँ 'विभक्ति' विषयक इनकी परिपाटी आज भी कुछ प्रसिद्ध पत्रों को मान्य हो रही है।

माधव प्रसाद मिश्र की भाषा में भी यद्यपि संस्कृत का बाहुल्य है, किन्तु इनकी शैली अधिक अनुशासित और भावानुरूप है। आपने संस्कृत के तत्सम् शब्दों का प्रयोग सतर्कता से किया है। भाषा का प्रवाह सुस्थिर गति से भावोद्वेग का अनुगमन करता है, तथा गम्भीर विषयों के प्रतिपादन में इनकी सिद्धहस्तता से प्रभावित होना पड़ता है। आपने यद्यपि बहुत थोड़ा लिखा है किन्तु जो कुछ है उस पर आपके व्यक्तित्व की मुहर है। सारांश में आपका गद्य अच्छा है। 'रामलीला' नामक लेख से एक उद्धरण नीचे दिया जाता है।

माधव प्रसाद मिश्र

"आठ सौ वर्ष तक हिन्दुओं के सिर पर कृपाण चली, परन्तु 'रामचन्द्र की जय' तब भी बन्द न हुई। सुनते हैं कि औरङ्गज़ेब ने असहिष्णुता के कारण एक बार कहा था कि 'हिन्दुओ! अब तुम्हारे राजा रामचन्द्र नहीं हैं, हम हैं। इसलिए रामचन्द्र की जय बोलना राजद्रोह करना है।' औरङ्गज़ेब का कहना किसी ने न सुना। उसने राजभक्त हिन्दुओं का रक्तपात किया सही, पर वह 'रामचन्द्र की जय' को न बन्द कर सका। कहाँ हैं वह अभिमानी लोग! अब रामचन्द्र के विश्व ब्रह्माण्ड को देखें और उस मृण्मय समाधि (क़ब्र) को देखें और फिर कहें कि राजा कौन है? भला कहाँ राजाधिराज रामचन्द्र और कहाँ एक अहङ्कारी क्षण-जन्मा मनुष्य?" आगे चलकर उसी लेख का अन्तिम भाग देखिये:—

"एक वे विद्वान् हैं जो राम और रामायण की प्रशंसा करते हैं। रामचरित्र को अनुकरण-योग्य समझते हैं, एवं रामचन्द्र जी को भक्ति-मुक्ति-दाता मान रहे हैं; और एक वे लोग हैं जिनकी युक्तियों का बल केवल एक इसी बात में लग रहा है कि "रामायण में जो चरित्र वर्णित हैं वे सचमुच किसी व्यक्ति के नहीं हैं, किन्तु केवल किसी घटना और अवस्था विशेष का रूपक बाँध के लिख दिये गये हैं। निरङ्कुशता और धृष्टता आजकल ऐसी बढ़ी है कि निर्गलता से मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। इस भाँति मत का प्रचार करने वाले वेबर साहब यदि यहाँ होते तो हम उन्हें दिखाते कि जिसका वे अपनी विष्दग्धा लेखनी से जर्मन में वध कर रहे हैं, वह भारतवर्ष में व्यापक और अमर हो रहा है।"

ऊपर के अवतरण को ध्यान देने से मालूम होता है कि अपनी वृद्धा भावना पर ठेस लगने पर भी मिश्रजी तिलमिला नहीं जाते। वे सीधे-सादे शब्दों में तर्कविहीन दलीलों से अपनी बात को मनवाना चाहते हैं। उनकी रागात्मक शैली में भी बालकों की सी भाव-सरलता है। वे इतना लिख लेते थे, यही सब कुछ है।

आरम्भ के लेखकों में बालमुकुन्द गुप्त का उल्लेख प्रासङ्गिक है। आपकी भाषा का श्रोत गोविन्दनारायण मिश्र की शैली के ठीक विपरीत बहता है। आप फ़ारसी अरबी के अच्छे ज्ञाता थे, इस कारण आपकी भाषा-शैली में एक अपूर्व उर्दू-जनित प्रवाह है। आप में अनुपम वाक्विदग्धता है। इसका कारण भी आपकी उर्दूदानी है। इनके लेखों में हमको फ़ारसी के प्रचार-प्राप्त शब्द-समूह के साथ संस्कृत के तत्सम् शब्दों की बहार मिलती है। भाषा विषयक अपाङ्गुता ढूँढ़ने से भी दिखायी नहीं पड़ती। वाक्य-विन्यास लम्बी दण्डवत नहीं करता, प्रत्युत व्यञ्जना की रङ्गीली चुलबुलाहट पाठकों को कोंचती हुई चलती है। आपकी लेखनी में कल्पना का सौष्ठव भी यथेष्ठ परिमाण में

बालमुकुन्द गुप्त

दृष्टिगत हैं। मुहाविरे गुप्तजी के बड़े चुस्त हैं। आपका व्यङ्ग बड़ा शिष्ट होता है। वह केवल सजग कर सकता है, आहत नहीं करता। व्यङ्ग की इतनी सन्तात्मकता अच्छे-अच्छे लेखकों में नहीं मिलती। परन्तु उनका व्यङ्ग विद्वानों का गूढ़ व्यङ्ग नहीं है। वह बिलकुल सतह पर रहता है। आपके 'शिवशम्भु का चिट्ठा' से एक अवतरण प्रस्तुत है:—

बालमुकुन्द गुप्त

"शर्मा जी महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिलबट्टे से भङ्ग रगड़ी जा रही थी। बादाम, इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारङ्गियाँ छील-छील कर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रहीं हैं; तबियत भुरभुरा उठी। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं, अँधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं। साथ ही तड़ातड़, धड़ाधड़ होने लगा। देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई, बूटी तैयार हुई, 'बम् भोला' कह शर्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ायी। ठीक उसी समय लाल डिग्गी पर बड़े लाट मिण्टो ने बङ्गदेश के भूतपूर्व छोटे लाट उडबर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय में कलकत्ते में यह दो आवश्यक कार्य हुए। भेद इतना ही था कि शिवशम्भु के बरामदे की छत पर बूँदें गिरती थीं और लार्ड मिण्टो के सिर या छाते पर।"

गुप्तजी की लेखनी केवल तरल मनोरञ्जन की सामग्री ही खींचती हो, यह बात न थी; वे आलोचक भी मर्मभेदी थे। अन्योक्तिमय निबन्धों के ये बड़े सिद्धहस्त लेखक थे। ऐसे अन्योक्तिमय निबन्ध प्रतापनारायण को छोड़ कर अन्य बहुत कम लेखकों ने लिखे हैं।

हिन्दी के वर्तमान गद्य लेखकों में महावीरप्रसाद द्विवेदी का पद महान और असाधारण महत्व का है। द्विवेदीजी के आविर्भूत होते ही हिन्दी का नवयुग आरम्भ होता है। आपकी हिन्दी के प्रति सेवाओं में गुरुत्व का दर्शन है। अपने दीर्घकालीन साहित्य-जीवन में द्विवेदीजी ने लेखकों की वृद्धि और लेख्य विषयों का विस्तार किया। आपने अपनी विभिन्न शैलियों द्वारा अनेक लेखकों की शैलियों का सृजन और मार्जन किया है। द्विवेदीजी संस्कृत के और अन्य अनेक भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हैं। आप विज्ञानादि विभिन्न विषयों के बहुज्ञ समझे जाते हैं। आप पहले रेलवे के एक कर्मचारी थे; साहित्य से राग उत्पन्न होते ही आपने त्याग और तपस्या का जीवन धारण कर लिया और प्रयाग से "सरस्वती" सम्पादित करने लगे। 'सरस्वती' के आदि सम्पादक के पद से आपने हिन्दी की स्मरणीय सेवाएँ की हैं। हिन्दी में 'गणेशशङ्कर विद्यार्थी' प्रभृति-कुशल पत्र-सम्पादक ने द्विवेदीजी का ही शिष्यत्व ग्रहण कर और उनके निर्देशित मार्ग पर आरूढ़ होकर, सम्पादकीय गौरव पाया। गम्भीर लेखोंसे लेकर वर्णात्मक कहानियाँ तक आप ने लिखी हैं। काव्य भी आप करते रहे हैं। आप स्वयं कवि नहीं हैं; परन्तु काव्य की एक विशेष पद्धति के आप जन्मदाता हैं और मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति कवियों के उन्नायक हैं। आपने अपने आदर्श सम्पादकीय-जीवन से एक सम्पादक के कर्तव्य और उत्तरदायित्व की परिभाषा रच दी है। आपकी सेवाएँ एक-देशीय नहीं, बहुत व्यापक हैं। वर्तमान हिन्दी संसार द्विवेदीजी से अत्यधिक प्रभावित है और

महावीरप्रसाद द्विवेदी

महावीरप्रसाद द्विवेदी

उसने उन्हें 'आचार्य' पद से विभूषित कर सन्तोष पाया है। गतवर्ष प्रयाग में आपके सम्मानार्थ साहित्यिकों का एक मेला हुआ था। इस 'द्विवेदी अभिनन्दन मेले' में आचार्य ने जो भाषण दिया था वह हिन्दी प्रेमियों को स्मरण रहेगा। 'इण्डियन प्रेस, प्रयाग' से 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' नामक वृहद् ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है। 'इसे काशी नागरी प्रचारिणी सभा' ने द्विवेदी जी को भेंट किया है।

साहित्य-क्षेत्र में उतरते ही द्विवेदीजी भाषा की अपाङ्गुता, स्थूलता और शिथिलता का परिहार करने में लग गये। अभी तक प्राय: सभी गद्य-लेखक व्याकरण के नियमों की अवहेलना करते चले आ रहे थे। आपने अपने प्रबल आन्दोलन और परिश्रम से भाषा की इस अनगढ़ता को दूर किया। आपके प्रयास से ही हिन्दी लेखकों ने भाषा में व्याकरण सम्बन्धी भूलें करना बन्द कीं और अपनी अपनी शैली का भी नियन्त्रण करने लगे। आचार्य की भाषा में ओज है, उसमें विचारों की व्यञ्जना की रीति हृदयग्राही और बोधगम्य है। विषय को अत्यधिक सरल और स्पष्ट कर देना आपकी शैली की विशेषता है। आपके वाक्यों में विषय-विवेचन का सुन्दर और क्रम-बद्ध सामञ्जस्य रहता है। नीचे उनके 'कवि और कविता', शीर्षक प्रबन्ध का एक अंश दिया जाता है :—

"कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्ध-सभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है; शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के ख़ास ख़ास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढ़े-लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता। हज़ारों वर्षों से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका है, जो नये नये कवि होते हैं वे उलट-फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदय-ग्राहिणी होती है।

"संसार में जो बात जैसी देख पड़े कवि को उसे वैसी ही वर्णन करनी चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में भाव आप ही आप पैदा होते हैं। जब वह निडर होकर उन्हें अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका पूरा पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि बेरोक-टोक प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदय-द्रावक हुए बिना न रहे। परन्तु परतन्त्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट के पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस अतएव प्रभावहीन हो जाती है।"

ऊपर के उद्धरण की सामग्री की ओर न जाइये क्योंकि वह द्विवेदी जी के मानसिक विकास की कोई चीज़ नहीं है। वह केवल साधारण लोगों को 'कविता क्या है' यह समझाने के लिए लिखी गयी है। कहने का ढङ्ग देखिये। कितनी सरल प्रतिपादन-प्रणाली है! जिस समय वे किसी अधिक ऊँची चीज़ की गवेषणा करते हैं उनके वाक्य अपेक्षाकृत और सरल हो जाते हैं। परन्तु आलोचना के क्षेत्र में उनका दूसरा रूप है। आलोचनात्मक शैली को उनकी व्यङ्गात्मक शैली से प्रथक नहीं किया जा सकता। उनके एक लेख का आलोचनात्मक खण्ड उद्धृत किया जाता है।

"जून १९०७ के 'हिन्दुस्तान-रिव्यू' में एक छोटा सा लेख, श्रीयुत एस० सी० सान्याल, एम० ए० का लिखा हुआ प्रकाशित हुआ है। उसमें लेखक ने दिखलाया है कि कैसी-कैसी कठिनाइयों को झेलकर सर विलियम ने कलकत्ते में संस्कृत सीखी। क्या हम लोगों में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो सर विलियम की आधी भी कठिनाइयाँ

उठाकर संस्कृत सीखने की इच्छा रखता हो ? कितनी लज्जा, कितने दुख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना धन खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज फ़ारसी और अङ्गरेज़ी शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत नाम किस चिड़िया का है ? संस्कृत जानना तो दूर की बात है, हम लोग अपनी मातृभाषा हिन्दी भी तो बहुधा नहीं जानते, और जो लोग जानते भी हैं उन्हें हिन्दी लिखते शरम आती है। इन मातृ-भाषा-द्रोहियों का ईश्वर कल्याण करे ! सात समुद्र पार कर इङ्गलैंड वाले यहाँ आते हैं और न जाने कितना परिश्रम और खर्च उठाकर यहाँ की भाषाएं सीखते हैं। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखकर ज्ञानवृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रन्थ पढ़ कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्वज्ञानी बनते हैं। खुद कुछ नहीं करते। कहते हैं सिर्फ़ व्यर्थ कालातिपात करते हैं। अङ्गरेज़ी लिखने की योग्यता का प्रदर्शन 'घर' में घोर अन्धकार है उसे तो दूर नहीं करते विदेश में जहाँ गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग़ जलाने दौड़ते हैं।"

यह अंश उनकी शैली का उचित प्रतिनिधि नहीं है, परन्तु उनके लिखने के ढङ्ग के मुख्य मुख्य अंश इस गद्यांश में परिलक्षित होते हैं। इस स्थल पर उनके विद्वत्तापूर्ण प्रबन्ध, चुटीली आलोचनाएं, मार्मिक व्यङ्ग और रस सम्पन्न कहानियों के अवतरण देने से अधिक स्थान लगेगा। द्विवेदी जी ने छोटी मोटी अनेक पुस्तकें और सैकड़ों फुटकर लेख लिखे और बहुत से अनुवाद किये। सन् १९०३ में आपने 'सरस्वती' का सम्पादन आरम्भ किया था, तब से आपकी विभिन्न-विषयक रचनाएं जैसे निबन्ध, आलोचना, स्त्रियोपयोगी और बालोपयोगी पुस्तकें हिन्दी का भण्डार भरती रहीं। आरम्भ में आप कविताएं हिन्दी में लिखते थे और आज भी बुढ़ापे में संस्कृत के श्लोक रचते हैं।

आपकी शैली एक नहीं है। गूढ़ विषयों का निदर्शन करते समय आपकी भाषा का वेश साधु और गति संयत रहती है। इस गति में स्थिरता और तरल सरलता का प्रवाह रहता है। आचार्य की ही भाँति आप विषय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं। समझते समय आप साधारण से साधारण बुद्धि वाले का ही अधिक ध्यान रखते हैं। अलोचना करते समय आपके वाक्य तीव्र कटाक्ष करते हैं। आपका व्यङ्ग कभी-कभी चटपटा न होकर भी चुटीला होता है। शब्द-चयन सदैव उपयुक्तता का अपेक्षित रहता है; उसमें अँगरेज़ी के शब्द भी हमको मिलते हैं, फ़ारसी और संस्कृत के भी, परन्तु वे सब आपकी शैली में घुले मिले रहते हैं। संस्कृत शब्दों के तत्सम और तद्भव दोनों ही रूपों का प्रयोग रहता है। आपका कथन है कि शिक्षित समुदाय में शिष्ट संभाषण की भाषा ही साहित्य की भाषा है। आपमें सरलता से वर्णित विषय को सुबोध बनाने का पाण्डित्य दिखलायी देता है। यथार्थ में द्विवेदी जी के सम्मान में इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता कि अब तक उनके पूर्व के जितने गद्य लेखक हुए हैं; और जिनकी चर्चा हम ऊपर कर आये हैं, उनकी समूची साहित्यिक कृतियाँ यदि आज किसी विज्ञ सम्पादक द्वारा सम्पादित करायी जायँ तो उनमें अधिकांश का परिवर्तिन हो जायगा, परन्तु आचार्य के बाएँ हाथ से लिखे लेख पर भी किसी को क़लम उठाने का साहस न होगा।

नवयुग के वर्तमान गद्य-महारथियों में श्यामसुन्दरदास का नाम आता है। आपकी रचनाओं में नवयुग का प्रतिनिधित्व है। भाषा की प्रौढ़ता और उद्भावना-शक्ति का यथेष्ट परिचय मननशील विषयों के ही प्रतिपादन में मिलता है। किसी नवीन विषय पर लेखनी उठाते समय भावानुकूल भाषा पर विरलों का ही अधिकार होता है। द्विवेदीजी ने जिस प्रकार भाषा को समीचीनता का जामा पहनाया, श्याम-सुन्दरदास ने उसी प्रकार हिन्दी में व्यापकता का सृजन कर

श्यामसुन्दरदास

नहीं हो सका। यह विचार इनकी पुरानी कृतियों की लेखन-शैली पर आश्रित था। इनके इतिहास और 'गोस्वामी तुलसीदास' के अध्ययन करने के पश्चात् इनकी शैली में जो घोर परिवर्तन हुआ है, वह इनके गौरव के लिए आवश्यक था। इनकी प्राचीन शैली के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। 'साहित्यालोचन' में इन्होंने एक स्थल पर लिखा है :—

"कविता उन मूल और आदिम मनोवृत्तियों का व्यवसाय है, जो सजीव सृष्टि के बीच सुख दुःख की अनुभूति से निरूप परिणाम द्वारा अत्यन्त प्राचीन कल्प में प्रकट हुई और मनुष्य जाति आदिकाल से जिनके सूत्र से शेष सृष्टि के साथ तादात्म का अनुभव करती चली आयी है।"

मुख्य भाव इतनी उलझी हुई गाँठों से बँधा है और उसकी व्यञ्जना इतनी लम्बी हो गयी है कि लेखक को अपने सूत्र के सँभालने में ही अपने मस्तिष्क को परिश्रम देना पड़ा है। वह अपने पाठकों को भूल गया है। उसे कभी-कभी एक पैराग्राफ़ के लिए कई-कई पैराग्राफ़ लिखने पड़े हैं। सूत्र स्थिर करने के लिए कभी-कभी कई पृष्ठ पलट-पलट कर पढ़ने पड़ते हैं।

ऊपर के अवतरण का भाव सरल किया जा सकता था; परन्तु लेखक ने ऐसा नहीं किया। स्थान-स्थान पर श्यामसुन्दरदास को अपने विचारों से भी अधिक अपनी भाषा का ही अर्थ समझाना पड़ा है। यह उनकी शैली-विषयक दुरूहता का कारण है। एक स्थल पर आपने ब्रजभाषा का 'लौ' शब्द 'तक' के अर्थ में प्रयोग कर दिया है। यह इनकी मँजी भाषा में एक खटकने वाली बात है। 'साहित्यालोचन' में अन्यत्र लिखा है :—

"पुस्तकों द्वारा दूसरों का जो सञ्चित ज्ञान मुझे प्राप्त होता है और जो अधिक काल तक मानव हृदय पर अपना प्रभाव जमाये रहता है, उसी की गणना हम काव्य या साहित्य में करते हैं। साहित्य

स हमारा अभिप्राय उस ज्ञान समुदाय से है जिसे साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्य की सीमा के भीतर माना है।"

ऊपर के वाक्य में कैसी अतार्किक परिभाषा दी गयी है। केवल 'साहित्यालोचन' पढ़ने वाला यही कहेगा कि श्यामसुन्दरदास की शैली कृत्रिम और आरम्भिक है, परन्तु 'साहित्यालोचन' अधिकतर अनुवाद-ग्रन्थ है। उसकी शैली में जो दोष दिखायी देते हैं वे श्यामसुन्दरदास की शैली के दोष न होकर उनके अनुवाद के दोष हैं। किसी बात को बारबार दोहराना और समझाना शिक्षक अपना पहला कर्तव्य समझता है। इसी भाव से प्रेरित होकर इस ग्रन्थ में पुनरुक्ति दोष आया है। उनकी नयी पुस्तकों में यह बात नहीं है। उनके नये ग्रन्थ 'गोस्वामी तुलसीदास' का एक अवतरण नीचे दिया जाता है :—

"इसमें गोस्वामी जी की उत्कृष्ट योग्यता और प्रतिभा देख पड़ती है। गोस्वामी जी के पीछे उनकी नक़ल करने वाले तो बहुत हुए, पर ऐसा एक भी न हुआ कि जो उनसे बढ़कर हो या कम से कम उनकी समकक्षता कर सकता हो। हिन्दी कविता के कीर्ति-मन्दिर में गोस्वामी जी का स्थान सबसे ऊँचा और सबसे विशिष्ट है। उस स्थान के बराबर का स्थान पाने का कोई अधिकारी अब तक उत्पन्न नहीं हुआ है। इस अवस्था में हमको गोस्वामी जी को हिन्दी कवियों की रत्नमाला का सुमेर मानकर ही पूर्व कथित साहित्य-विकास के सिद्धान्त की समीक्षा करनी पड़ेगी।

"गोस्वामी जी ने देश के परम्परागत विचारों और आदर्शों को बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रन्थ जो आज देश की इतनी असङ्ख्य जनता के लिए धर्म-ग्रन्थ का काम दे रहे हैं, उसका कारण यही है। गोस्वामीजी हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म और हिन्दी संस्कृति को अक्षुण्ण रखने वाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी यशः प्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी के हृदय-पटल पर अनन्त

काल तक अङ्कित रहेगी, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। यह एक साधारण नियम है कि साहित्य के विकास की परम्परा क्रमबद्ध होती है। इसमें कार्य-कारण का सम्बन्ध प्रायः ढूँढ़ा और पाया जाता है। एक काल विशेष के कवियों को यदि हम फल स्वरूप मान लें, तो उनके उत्तरवर्त्ती ग्रन्थकारों को फूलस्वरूप मानना पड़ेगा। फिर ये फूलस्वरूप ग्रन्थकार समय-समय पर अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के फलस्वरूप और उत्तरवर्त्ती ग्रन्थकारों के फूलस्वरूप होंगे। इस प्रकार यह क्रम सर्वथा चला जायगा और समस्त साहित्य एक लड़ी के समान होगा जिसकी भिन्न-भिन्न कड़ियाँ उस साहित्य के काव्यकार होंगे।

इस सिद्धान्त को सामने रखकर यदि हम तुलसीदास जी के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तो हमें पूर्ववर्त्ती काव्यकारों की कृतियाँ क्रमशः विकसित रूप में तुलसीदास जी में तो देख पड़ती हैं, पर उनके पश्चात् यह विकास आगे बढ़ता हुआ नहीं जान पड़ता। ऐसा भास होने लगता है कि तुलसीदास जी में हिन्दी-साहित्य का पूर्ण विकास सम्पन्न हो गया और उनके अनन्तर फिर क्रमोन्नत विकास की परम्परा बन्द हो गयी तथा उसकी प्रगति ह्रास की ओर उन्मुख हुई। सच बात तो यह है कि गोस्वामी तुलसीदास में हिन्दी कविता की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। वह उनकी कृतियों में चरम सीमा तक पहुँच गयी। उसके आगे फिर कुछ करने को नहीं रह गया।"

श्यामसुन्दरदास की सब से बड़ी खूबी यह है कि शुद्ध हिन्दी तत्सम् शब्दों से गुथे हुए वाक्य साधारण रूप से उनकी लेखनी से बहते निकलते हैं और एक ओर जहाँ वे उर्दू, फ़ारसी इत्यादि के मेल से नितान्त बचे रहते हैं उसी प्रकार दूसरी ओर गोविन्दनारायण मिश्र के बड़े-बड़े समासान्त संस्कृत-गर्वित वाक्यों से भी बाल-बाल बचते हैं। आपकी शैली में गम्भीरता और रूक्षता है। विषय की दूरूहता ने शैली को और भी रूखा बना दिया है। साधारण लोगों

की शैली में जो चुहलपन रहता है, उसका यहाँ नितान्त अभाव है। इनकी शैली बोझीली है। इसमें प्रज्ञात्मक गुण प्रधान है। इस शैली में व्यङ्गात्मक गुण नहीं है। जब ये किसी पर आक्षेप करते हैं तो बड़ी धीमी तथा सङ्केतात्मक भाषा में अपनी बात कहते हैं। हिन्दी साहित्य के पुनरुत्थान और प्रचार में इन्होंने जितना काम अकेले किया है उतना बहुत से साहित्य महारथियों ने मिलकर भी नहीं किया। शैली की दृष्टि से इस युग के प्रसिद्ध नाटककार और कवि जयशङ्कर प्रसाद को श्यामसुन्दरदास के अनुयायी वर्ग का कह सकते हैं; यद्यपि ध्यान से इन दोनों शैलियों का अनुशीलन किये बिना इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। आपके दोनों नवीन ग्रन्थों में शैली का विकट परिवर्तन दृष्टिगत होता है।

हिन्दी के आलोचना-लेखकों में आज रामचन्द्र शुक्ल का पद निर्भ्रान्त रूप से सर्वश्रेष्ठ है। वे ब्रजभाषा के सरस कवि और हिन्दी साहित्य के अद्वितीय समीक्षक और कलापारखी हैं। भारतीय काव्य लक्षणों के आधार पर और पश्चिमीय नवीन से नवीन काव्य विषयक सिद्धान्तों को समक्ष रखकर, आपने एक नितान्त अर्वाचीन समीक्षा प्रणाली की सृष्टि की है। इसी की कसौटी पर गोस्वामी तुलसीदास, कवि-सम्राट् सूरदास और मलिक मुहम्मद जायसी की जो विशद आलोचनाएँ लिखीं हैं वे अपनी जोड़ की हिन्दी साहित्य में दूसरी पुस्तकें नहीं रखतीं। रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का ज्ञान बहुत ही विशद और स्पष्ट है। उनके मनोभावों पर लिखे हुए बहुत से दार्शनिक लेख हिन्दी निबन्ध-साहित्य की अनुपम निधि हैं। उनकी चिन्तना अत्यन्त सुलझी हुई है और अभिव्यक्ति बहुत स्पष्ट है।

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्लजी के आविर्भाव के पूर्व जितना भी गद्य-साहित्य लिखा गया है उसमें बहुत कम ऐसा भाग होगा जो विद्वानों के मनन करने और चिन्तन करने योग्य हो अथवा जो विचार-मौलिकता, विषय

की महानता और सफल अभिव्यञ्जन के बल पर विश्व-विद्यालयों की उच्च कक्षाओं में पढ़ाया जा सकता हो। श्यामसुन्दरदास और रामचन्द्र शुक्ल की कृतियों ने इस अभाव को एकदम पूर्ण कर दिया है। शुक्लजी की शैली अत्यन्त गम्भीर, मार्मिक और चुटीली है। बड़े-बड़े वाक्यों में भी बड़ा भारी सुखद आकर्षण है। उनकी लड़ी का एक वाक्य नाचते हुए मयूर के पङ्ख की भाँति एक के बाद एक निकल कर सजता हुआ चला आता है। उनका सामूहिक प्रभाव बड़ा ही गहरा और चिरन्तन पड़ता है। उनके प्रबन्ध के एक भाग का कुछ अंश नीचे दिया जाता है।

रामचन्द्र शुक्ल

"इस दिव्य वाणी का मञ्जु-घोष घर-घर क्या, एक-एक हिन्दू के हृदय तक पहुँच गया कि भगवान दूर नहीं हैं, तुम्हारे जीवन में मिले हुए हैं। यही वाणी हिन्दू जाति को नया जीवन-दान दे सकती है भी। उस समय यह कहना कि ईश्वर सबसे दूर है, निर्गुण है, निरञ्जन है, साधारण जनता को और भी नैराश्य के गड्ढे में ढकेलना है। ईश्वर बिना पैर के चल सकता है, बिना हाथ के मार सकता है और सहारा दे सकता है, इतना और जोड़ने से भी मनुष्य की वासना को पूरा आधार नहीं मिल सकता। जब भगवान मनुष्य के पैरों से दीन-दुखियों की पुकार पर दौड़कर आते दिखायी दें और उनका हाथ मनुष्य के हाथ के रूप में दुष्टों का दमन करता और पीड़ितों को सहारा देता दिखायी दे, उनकी आँखें मनुष्य की आँखें होकर आँसू गिराती दिखायी दें, तभी मनुष्य

के भावों की पूर्ण तृप्ति हो सकती है और लोकधर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है।

इस भावना का अङ्गरेजी नामकरण हो जाने पर भी, सभ्यता के आधुनिक इतिहासों में विशेष स्थान स्थिर हो जाने पर भी, हिन्दू हृदय से बहिष्कार नहीं हो सकता। जहाँ हमें दिन-दिन बढ़ता हुआ अत्याचार दिखायी पड़ा कि हम उस समय की प्रतीक्षा करने लगेंगे जब वह "रावणत्व" की सीमा पर पहुँचेगा और "रामत्व" का आविर्भाव होगा। तुलसी के मानस से रामचरित की जो शील-शक्ति-सौन्दर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँच कर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिम्ब झलका दिया। रामचरित की इसी जीवन-व्यापकता ने तुलसी ही को राजा, रङ्क, धनी, दरिद्र, मूर्ख, पण्डित, सबके हृदय और कण्ठ में सब दिन के लिए बसा दिया। किसी श्रेणी का हिन्दू हो, वह अपने प्रत्येक जीवन में राम को साथ पाता है। सम्पति में, विपति में, घर में, बन में, रणक्षेत्र में, आनन्दोत्सव में जहाँ देखिये वहाँ राम। गोस्वामी जी ने उत्तरापथ के समस्त हिन्दू जीवन को राम-मय कर दिया।

गोस्वामी जी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिन्दू जनता अवसर के अनुसार सौन्दर्य पर मुग्ध होती है, महत्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति में धैर्य्य धारण करती है, कठिन कर्म में उत्साहित होती है, दया से आर्द्र होती है, बुराई पर ग्लानि करती है, शिष्टता का अवलम्बन करती है और मानव जीवन के महत्व का अनुभव करती है।"

कैसा हृदय में गुदगुदी पैदा कर देने वाला वर्णन है। रागात्मक और प्रज्ञानात्मक शक्तियों का ऐसा अनूठा समन्वय कठिनता से ही अन्यत्र मिलेगा। हृदय पर चोट पहुँचती है और तुलसीदास के साथ-साथ शुक्लजी के प्रति भी श्रद्धा से मस्तक नत हो जाता है।

रामचन्द्र को तुलसी ने बनाया और तुलसी का निरूपण शुक्लजी ने किया।

ऊपर के गद्य-खण्ड में वाक्यों का छोटा-बड़ा मेल है। अधिकतर बड़े ही वाक्य हैं। उनकी एक बड़ी सुखद औत्सुक्यमय गुदगुदी होती है। उनके बड़े-बड़े वाक्यों का बवण्डर बदरीनारायण के वाक्यों की तरह ऊबा नहीं देता। ज्योत्स्ना की लड़ियों की भाँति उनका वाक्य-गुम्फन अन्धकार में छिटक कर हठात् चित को भावचन्द्र की ओर आकर्षित कर लेता है। उनकी आलोचना-पद्धति की शैली का भी नमूना देखिये।

"काव्य के दो स्वरूप हमें देखने में आते हैं—अनुकृत या प्रकृत तथा अतिरञ्जित या प्रगति। कवि की भावुकता की सच्ची झलक वास्तव में प्रथम स्वरूप में ही मिलती है। जीवन के अनेक मर्म-पक्षों की वास्तविक अनुभूति जिसके हृदय में समय-समय पर जगती रहती है, उसी से ऐसे रूप-व्यापार हमारे सामने लाते बनेगा, जो हमें किसी भाव में मग्न कर सकते हैं और उसी से उस भाव की ऐसी स्वाभाविक रूप में व्यञ्जना भी हो सकती है जिसको सामान्यत: सबका हृदय अपना सकता है। अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर, निज के योग-क्षेम के सम्बन्ध से युक्त करके, जगत के वास्तविक दृश्यों, जीवन की वास्तविक दशाओं में, जो हृदय समय-समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि-हृदय है। सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बढ़ा-चढ़ा और चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यञ्जना अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं; पर वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते। उनके द्वारा अङ्कित वस्तु-व्यापार-योजना इसी जगत की होती है, उनके द्वारा भाव उसी रूप में व्यञ्जित होते हैं जिस रूप में उनकी अनुभूति जीवन में होती है या हो सकती है। भारतीय कवियों की मूल प्रवृत्ति वास्तविकता की ओर ही रही है। यहाँ काव्य जीवन-क्षेत्र से अलग खड़ा किया केवल तमाशा ही नहीं रहा है।

"काव्य का दूसरा स्वरूप—अतिरञ्जित या प्रगति वस्तु-वर्णन तथा भाव-व्यञ्जन दोनों में पाया जाता है। कुछ कवियों की प्रवृत्ति रूपों और व्यापारों की ऐसी योजना की ओर होती है जैसी सृष्टि के भीतर नहीं दिखायी पड़ा करती। उनकी कल्पना कभी स्वर्ण कमलों से कलित सुधा-सरोवर के कूलों पर, मलयानिल-स्पन्दित पटलों के बीच विचरती है। कभी मरकत-भूमि पर खड़े, मुक्ता-खचित प्रवाल-भवनों में, पुष्प-पराग और नीलमणि के स्तम्भों के बीच, हीरे के सिंहासनों पर जा टिकती है। कभी सायं-प्रभात के कनक-मेखला-मण्डित, विविध वर्णमय घन-पटलों के पर्दे डालकर, विकीर्ण तारिकासिकता-कणों के बीच बहती, आकाश-गङ्गा में अवगाहन करती है। इसी प्रकार की कुछ रूप-योजनाएँ प्राचीन आख्यानों में रूढ़ होकर पौराणिक हो गयी हैं और मनुष्य की नाना जातियों के विश्वास से सम्बन्ध रखती हैं—जैसे सुमेरु-पर्वत, सूर्य-चन्द्र के पहियों वाला रथ, समुद्र-मन्थन, समुद्र-लङ्घन, सिर पर पहाड़ लाद कर आकाश मार्ग से उड़ना, इत्यादि। इन्हें काव्यगत अत्युक्ति या कल्पना की उड़ान के अन्तर्गत हम नहीं लेंगे।"

ऊपर के खण्ड में अपेक्षाकृत वाक्य छोटे हैं। अङ्गरेजी भावों और विचारों के लिए कैसी उपयुक्त प्रणाली की सृष्टि की गयी है। मस्तिष्क को इनके भाव समझने में अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता। इनकी अभिव्यञ्जना में नितान्त प्रचलित शब्दों का प्रयोग त्याज्य नहीं है। इनके छोटे-बड़े वाक्यों से गुम्फित शैली सम्मार्जित गति से चलती है और मस्ती से इठलाती भी है। आप की लेखन-शैली में बड़ी सञ्जीवनी-शक्ति है। उसमें कठिन से कठिन और अधिकाधिक दुरूह विषयों को सरल कर देने के लिए अनुपम सौकर्य है। मनोविज्ञान विषयक उनके एक लेख का कुछ अंश नीचे दिया जाता है :—

"प्रेम और श्रद्धा में अन्तर यह है कि प्रेम प्रिय के स्वाधीन कार्यों पर उतना निर्भर नहीं। कभी कभी किसी का रूप मात्र

जिसमें उसका कुछ भी हाथ नहीं, उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होने का कारण होता है; पर श्रद्धा ऐसी नहीं है। किसी की सुन्दर आँख या कान देखकर उसके प्रति श्रद्धा नहीं उत्पन्न होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे, पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य जान-बूझ कर अपने को किसी स्थिति में डाले जिससे किसी जन-समुदाय का सुख वा भला हो। श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। किसी मनुष्य से प्रेम रखने वाले दो ही एक मिलेंगे, पर उस पर श्रद्धा रखने वाले सैकड़ों, हजारों, लाखों क्या करोड़ों मिल सकते हैं।"

इस गद्य खण्ड में कैसे छोटे-छोटे वाक्य हैं। विषय को इस शैली ने बड़ा सुबोध बना दिया है। इनके लिखने से कहीं नहीं मालूम होता है कि इन्हों ने जो कुछ लिखा है वह बचा हुआ नहीं है। आपकी आलोचना-प्रणाली में युग-परिवर्तन प्रतिबिम्बित है। आपके बहुत से अनुयायी उत्पन्न हो गये हैं। आपके वाक्यों में व्यङ्गात्मक आक्रमण करने की अनुपम शक्ति रहती है और जितने वेग तथा स्फूर्ति के साथ ये अपनी बातों को पाठक के हृद्-तल तक उतार देते हैं उतनी ही सरलता से ये दूसरों के मिथ्या सिद्धान्तों को भी धराशायी कर देते हैं। ये जितने महान निर्माणक हैं, उतने ही भीषण प्रहारक। इनकी शैली में विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनों लक्षणों के एक साथ दर्शन मिलते हैं। इसके अतिरिक्त आपने सैकड़ों शब्दों को गढ़कर हिन्दी में प्रचार कर दिया है। केन्द्रित प्रणाली और सङ्केतात्मक भाषा के कारण इन्हें हिन्दी में वही स्थान प्राप्त है जो अङ्गरेजी के प्रसिद्ध विद्वान-लेखक 'फ्रांसिस बेकन', का है, यद्यपि इनके वाक्य 'बेकन' के सदृश सर्वत्र छोटे छोटे नहीं हैं। मनोभावों के विश्लेषण में आपने जो लेख लिखे हैं, वे अङ्गरेजी में 'जान-स्टुअर्ट मिल' के

निबन्धों से टक्कर लेते हैं। इनमें 'कारलाइल' की साहित्यिकता है और 'बर्नार्डशा' की तेजस्विता और स्फूर्ति।

गणेशविहारी मिश्र, श्यामविहारी मिश्र और शुकदेवविहारी मिश्र समभाई हैं। इन्होंने समाहार तथा पृथक रूप से हिन्दी की जो सेवा की है वह आरम्भ के लिए अच्छी

मिश्र-बन्धु

थी। हिन्दी ग्रन्थों का चलताऊ अध्ययन करके इन्होंने जो इतिहास 'मिश्रबन्धु-विनोद' के नाम से प्रस्तुत किया है वह काफी विशद और पूर्ण है। परवर्त्ती अङ्गरेज़ी और भारतीय सभी हिन्दी विद्वानों ने खुल्लमखुल्ला इनके इतिहास का प्रयोग किया है। सबसे प्रथम ऐसा विशद इतिहास का प्रणयन करने के लिए हिन्दी संसार इनका आभारी है। 'शिवसिंह सेंगर' रचित 'शिवसिंह सरोज' इतना सिलसिलेवार न था। इसी प्रकार हिन्दी के ९ उच्चतम कवियों का एक आलोचनात्मक ग्रन्थ "हिन्दी नवरत्न" नाम से आप लोगों ने प्रस्तुत किया है। यह भी सुन्दर कृति है। परवर्त्ती समालोचक चाहे मिश्र-बन्धुओं के ग्रन्थों में बहुत सार न पायें और इनका वर्गीकरण बहुत कुछ मनमाना ही क्यों न मानें, परन्तु प्रारम्भिक काल में इनके प्रयास के मूल्य और महत्व को कोई कम नहीं कर सकता।

मिश्र-बन्धुओं ने प्रथक-प्रथक और सम्मिलित रूप से कविताएँ भी लिखी हैं; तथा कुछ निबन्ध रचना भी की है। नीचे इनके 'अध्ययन' नामक निबन्ध का एक अंश दिया जाता है।

"अध्ययन जन्म से प्रारम्भ होता है। बालक जन्म से एक ऐसी जगह आ जाता है कि जहाँ का वह कुछ भी हाल नहीं जानता। उसको इतना बोध भी नहीं होता कि आग जलाती है और साँप काटता है। धीरे धीरे अनुभव द्वारा वह अपना ज्ञान बढ़ाता जाता है, यहाँ तक कि समय पर बिना एक अक्षर भी पढ़े वह संसार की सभी साधारण बातें जान जाता है। यह सब ज्ञान-प्राप्ति एक प्रकार से अध्ययन ही

है। अध्ययन शब्द "ध्यै" धातु से निकला है जिसका प्रयोजन अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान का है। यह अनुभव चाहे अपना हो चाहे पराया, किन्तु दोनों द्वारा प्राप्त ज्ञान को अध्ययन ही कहेंगे। अपने अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान कुछ विशेष चिरस्थायी एवं लाभकारी होता है, किन्तु यदि मनुष्य सारा ज्ञान अपने ही अनुभव द्वारा प्राप्त करे, तो उसके ज्ञान की मात्रा बहुत ही सीमा-सङ्कुचित रहेगी।

गणेशविहारी मिश्र शुकदेव विहारी मिश्र श्यामविहारी मिश्र

संसार में ज्ञेय वस्तुएँ प्राय: अनन्त है और मनुष्य का अनुभव एवं समय बहुत ही थोड़ा है। फिर यदि सभी लोग अपने ही अनुभवों द्वारा ज्ञान प्राप्त करें, तो संसार में ज्ञान-वृद्धि बहुत कम हो। यहाँ तो ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न को जहाँ से एक छोड़ता है, वहीं से प्रारम्भ करके, दूसरा उसे उसके आगे ले जाता है और इसी प्रकार सहस्रों मनुष्यों द्वारा, प्रत्येक विभाग। में अनन्त ज्ञानवृद्धि होती है। फिर भी केवल दूसरों का अनुगामी पूरा पण्डित नहीं हो सकता।"

इस शैली में कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखायी देता। वास्तव में मिश्र-बन्धुओं को सर्व-सुबोध होने की झक है। भाषा सम्बन्धी व्याकरण के नियम मानने के भी वे अधिक पक्षपाती नहीं हैं। कदाचित् यही कारण हो सकता है कि उनके आलेख्यों में व्याकरण सम्बन्धी काफी अशुद्धियाँ होती हैं। वाक्य-विन्यास भी शिथिल, अनाकर्षक और साधारण पढ़े-लिखों का सा होता है। उनके आलेख का दूसरा उदाहरण देखिये:—

"इनमें हास्य की मात्रा इतनी थी कि होली में लकड़ी का बड़ा मोटा कुन्दा कमर पर बाँध कर कबीर गाते गलियों में निकलते थे। पहली एप्रिल को अङ्गरेज़ी सभ्यता के अनुसार मनुष्य दिल्लगी के लिए कोई भी झूठ बोल सकता है। भारतेन्दु उस दिन कुछ न कुछ अवश्य करते थे। एक बार आपने नोटिस दिया कि महाराज विजयानगरम् की कोठी में एक यूरोप के विद्वान् सूर्य और चन्द्रमा को पृथ्वी पर उतारेंगे। हज़ारों मनुष्य वहाँ एकत्र हुए, परन्तु कुछ न देखकर लज्जित हो लौट गये। एक बार प्रकाशित कर दिया कि एक बड़े प्रसिद्ध गायक हरिश्चन्द्र स्कूल में मुफ़्त गाना सुनावेंगे। जब हज़ारों आदमी एकत्र हुए, तब परदा खुला और एक मनुष्य विदूषक के वस्त्र पहने, उलटा तानपूरा लिए, घोर खर-स्वर करने लगा। यह देख लोग हँसते हुए शरमा कर घर लौट गये। एक बार इन्होंने एक मित्र से नोटिस दिला दिया कि एक मेम रामनगर के पास खड़ाऊँ पर सवार होकर गङ्गाजी को पार करेगी और खड़ाऊँ न डूबेगी। हज़ारों लोग एकत्र हुए, परन्तु न कहीं मेम, न खड़ाऊँ। पीछे सब कोई समझे कि यह भी मज़ाक था। भारतेन्दु ने सुन्दर कपड़े, खिलौने, फ़ोटो एवं अपूर्व पदार्थों का सङ्ग्रह सदैव किया।"

यह अवतरण पहले की अपेक्षा कुछ सुधरा हुआ है। विषय की दृष्टि से इस स्थल पर व्यङ्ग करने का काफ़ी अवकाश था। परिहास भी किया जा सकता था। चुटकी भी ली जा सकती थी, परन्तु

मिश्रबन्धु केवल एक रवानी के साथ बच्चों की भाँति वर्णन करते जाते हैं। वास्तव में सर्वत्र ही इनकी शैली ऐसी ही है। इन्होंने बहुत ही सीमित शब्द-कोष से काम लिया है। परन्तु इनकी आलोचनाएँ बड़ी निर्भीक रही हैं और अपने विषय को प्रकट करने में इन्होंने बड़े निस्सङ्कोच भाव से काम लिया है। इनकी शैली सर्वसुबोध अवश्य है। शब्दों की लिपि-विन्यास की जटिलता और व्याकरण की दुरूहता के पचड़े में पड़ना मिश्रबन्धु हिन्दी के लिए ठीक नहीं समझते।

बख़्शीजी हिन्दी के उन इने-गिने लेखकों में हैं जिन्होंने अध्ययन करना पहला काम और लिखना बाद का काम समझा है। द्विवेदीजी के बाद 'सरस्वती' का सम्पादन-भार इन्हीं के कन्धों पर आया और उस समय 'सरस्वती' और इनकी दोनों की ख़ूब धूम रही। इन्होंने रामचन्द्र शुक्ल की भाँति आलोचना के लिए नये तथ्यों का शोध किया है। इन्होंने दर्जनों ऐसे प्रबन्ध लिखे हैं जो मनन करने के और गम्भीर साहित्य की वस्तु है। इनके विषय इतिहास, दर्शन, साहित्य और अध्यात्म सभी प्रकार के थे और सभी विषयों पर इन्होंने उच्च कोटि की बातें लिखी हैं। इनकी शैली सीधी-सादी और मधुर है। सर्वत्र छोटे-छोटे वाक्य देखने में आते हैं।

पदुमलाल-पन्नालाल बख़्शी

"जिस आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर थे उसकी पुष्टि, जायसी के समान, मुसलमान साधकों और फ़क़ीरों ने की। भारत में राजकीय सत्ता स्थापित करने के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रयत्न करते रहे। परन्तु देश में दोनों का स्थान निर्दिष्ट हो चुका था। भारत से मुसलमानों का उतना ही सम्बन्ध हो गया था जितना हिन्दुओं का। प्रतिद्वन्द्वी होने पर भी इन दोनों के धर्मों का प्रवेश भारतीय सभ्यता में हो गया। हिन्दी और फ़ारसी से उर्दू की सृष्टि हुई। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान की कला ने मध्य-युग में एक नवीन भारतीय कला की सृष्टि की। देश में शान्ति भी स्थापित हुई। कृषकों का कार्य

निर्विघ्न हो गया। व्यवसाय और वाणिज्य की वृद्धि होने लगी। देश में नवीन भाव का यथेष्ट प्रचार हो गया।

अकबर के राजत्व-काल में इसका पूरा प्रभाव प्रकट हुआ। उसके शासन-काल में जिस साहित्य और कला की सृष्टि हुई उसमें हिन्दू और मुसलमान का व्यवधान नहीं था। अकबर के महामन्त्री अबुल-फ़ज़्ल ने एक हिन्दू मन्दिर के लिए जो लेख उत्कीर्ण कराया था उसका भावार्थ यह है। "हे ईश्वर, सभी देव-मन्दिरों में मनुष्य तुम्हीं को खोजते हैं, सभी भाषाओं में मनुष्य तुम्हीं को पुकारते हैं, विश्व-ब्रह्मवाद तुम्हीं हो और मुसलमान धर्म भी तुम्हीं हो। सभी धर्म एक ही बात कहते हैं कि तुम एक हो, तुम अद्वितीय हो। मुसलमान मसजिदों में तुम्हारी प्रार्थना करते हैं और ईसाई गिरजाघरों में तुम्हारे लिए घण्टा बजाते हैं। एक दिन मैं मसजिद जाता हूँ और एक दिन गिर्जा, पर मन्दिर मन्दिर में मैं तुम्हीं को खोजता हूँ। तुम्हारे शिष्यों के लिए सत्य न तो प्राचीन है और न नवीन।" अबुलफ़ज़्ल का यह उद्‌गार मध्य युग का नव सन्देश था।

पदुमलाल पन्नालाल बख़्शी

ऊपर के गद्य खण्ड में वाक्यों का छोटापन स्पष्ट है। किन्तु व्यञ्जना कितनी ऊँची और सुबोध है। सब भाषाओं के सर्वसुबोध शब्द निस्सङ्कोच भाव से प्रयोग किये गये हैं। पदुमलाल की शैली में गम्भीरता और ऊँचापन है। साथ ही साथ वह आडम्बरहीन है। एक दूसरे प्रकार का उनका आलेख देखिये :—

"आजकल मनुष्यों के मानसिक भावों में एक बड़ा परिवर्तन हो

गया है। पहले की तरह वे देशकाल में आबद्ध होकर सङ्कीर्ण विचारों के नहीं हो गये हैं। उनमें यथेष्ट स्वतन्त्रता आ गयी है। पहले मनुष्यों की जैसी प्रवृत्ति थी, उनमें प्रेम, घृणा आदि भावों का जैसा सङ्घर्षण होता था, वही लीला हम शेक्सपियर आदि नाटककारों की रचनाओं में देखते हैं। परन्तु अब यह बात नहीं है। आजकल युवावस्था की उद्दाम वासना और प्रेम व्यक्त करने के लिए हमें 'रोमियो जूलियट' अथवा 'एन्टनी-क्लयपेट्रा' की सृष्टि नहीं करनी होगी। उनसे हमारा काम भी नहीं चलेगा। आजकल मनुष्य की भोग-लालसा के साथ ही एक सौन्दर्य-वृत्ति भी है, जिसमें समाज-बोध और अध्यात्म-बोध का मिश्रण हो गया है। उनके हृदय का आवेग 'रोमियो' अथवा 'आथेलो' के समान नहीं है। वह बड़ा जटिल हो गया है।

'क्राइम एण्ड पनिशमेन्ट' नामक उपन्यास में एक ख़ूनी का चरित्र अङ्कित किया गया है। अन्त तक यह नहीं जान पड़ता कि खूनी दानव है या देवता। उसमें विपरीत भावों की अभिव्यक्ति इस तरह हुई है कि यदि उसे हम हत्याकारी मानें तो भी हमें दिव्य भावों की प्रधानता मालूम पड़ेगी। 'जार्ज मेरिडिथ' के 'दि इगोइस्ट' नामक उपन्यास का नायक सचमुच कैसा था, यह न तो वह जान सका और न उसके साथी ही। उपन्यास भर में उसके चरित्र की इसी जटिलता का विश्लेषण किया गया है। रवीन्द्र बाबू के 'घरे-बाहिरे' नामक उपन्यास में सन्दीप जैसा इन्द्रियपरायण है, वैसा ही स्वदेश-वत्सल और वीर भी। 'इब्सन', 'मेटरलिङ्क' अथवा 'रवीन्द्रनाथ' की कुछ प्रधान नायिकाओं के चरित्र ऐसे अङ्कित हुए हैं कि जब हम अपने संस्कारों के अनुसार उन पर दृष्टिपात करते हैं, तो उनके चरित्र में हीनता देखते हैं, परन्तु सत्य की ओर लक्ष्य रखने से यही कहना पड़ता है कि हम उन पर अपनी कोई सम्मति नहीं दे सकते।"

उपरोक्त अवतरण में भी भाषा की वही गति है, परन्तु आलोचना के वेग में जो स्फूर्ति आनी चाहिए वह स्पष्ट दिखायी देती है। इस शैली में आत्मीयता की छाप है। अधिकारी ज्ञान का परिचय भी इस लेख में मिलता है।

आपकी कुछ कृतियाँ स्वतन्त्र और मौलिक हैं। कुछ अङ्गरेज़ी के अनुवाद रूप में प्रकाशित हुई हैं। आपने कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं। 'हिन्दी साहित्य-विमर्श', 'विश्व-साहित्य', 'पञ्च-पात्र' आदि इनके उच्च कोटि के ग्रन्थ हैं। पदुमलाल का स्थान हिन्दी में अन्तरराष्ट्र स्थापित करने की दृष्टि से ऊँचा समझा जायगा।

राय बहादुर श्यामसुन्दरदास के सम्पर्क और मैत्री से स्वर्गीय रायबहादुर हीरालाल हिन्दी साहित्य की सेवा की ओर अग्रसर हुए।

रा. ब. हीरालाल

उन्होंने जो कुछ लिखा वह इतिहास तथा पुरातत्व पर लिखा और इस विषय के वे अच्छे विद्वान थे। उनकी लेखन-शैली पर एक ओर इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा का प्रभाव पड़ा है और दूसरी ओर श्यामसुन्दरदास का। इसलिए ये छोटे-छोटे वाक्य भी लिखते हैं और कहीं कहीं पर बड़े बड़े वाक्यों का भी प्रयोग करते हैं। इनमें प्रायः सरसता का अभाव है। नीचे इनके लेख का एक अवतरण दिया जाता है :—

"चित्रकूट छोड़ने पर श्रीरामचन्द्र जी सबसे पहले महर्षि अत्रि के आश्रम को पहुँचे। चित्रकूट के पास इनका आश्रम अब भी प्राचीन नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ के तपस्वियों ने राम को सावधान करते हुए दण्डक वन में जाने का सुगम मार्ग बतलाया। तब वे कई ऋषियों को देखते मरणप्राय शरभङ्ग के आश्रम को पहुँचे। वहाँ उनको निकटवर्त्ती सुतीक्ष्ण के आश्रम में जाने की सलाह दी गयी और चेतावनी कर दी गयी कि लङ्का से लेकर चित्रकूट तक राक्षसों का बड़ा उपद्रव है। सुतीक्ष्ण के आश्रम में पहुँच कर राम वहाँ

कुछ दिन रहे और इधर-उधर घूम कर फिर वहीं आ गये। पश्चात् वे वहाँ से चार योजन की दूरी पर अगस्त्य के भाई के आश्रम को गये। फिर वहाँ से अनतिदूर अगस्त्य के आश्रम को जाकर उन्होंने अपने रहने योग्य स्थान का पता लगाया। अगस्त्य ने अपने आश्रम से दो योजन पर गोदावरी नदी के तट पर 'पञ्चवटी' स्थान बताया। वहाँ कुटी बनाकर राम की पार्टी रहने लगी। यहीं से सीता जी को रावण हर ले गया। पञ्चवटी से थोड़ी दूर पर जटायु ने रावण को रोका; परन्तु उसने गृद्ध के पङ्ख काट डाले और पम्पा सरोवर से होते हुए, सागर को लाँघकर, वह ठेठ लङ्का को जा पहुँचा।"

रा. ब. हीरालाल

इनकी शैली में बच्चों की सी अपरिपक्वता है। ऐतिहासिक शोध के लिए यह शैली अनुपयुक्त नहीं, परन्तु इसमें कोई साहित्यिक आकर्षण नहीं है। आपकी शैली कृत्रिम तो नहीं है, परन्तु उसमें साधारण प्रभाव का अभाव है। इनकी शैली में बल नहीं है। उसमें अनावश्यक विभक्तियों की भरमार है। इसीलिए संगठन बिलकुल नष्ट हो गया है। वेग, प्रवाह अथवा स्फूर्ति भी नहीं है, परन्तु विषय की दृष्टि से और हिन्दी सेवा के नाते, स्वर्गीय रायबहादुर हीरालाल हिन्दी के उन्नायकों में स्थान रखते हैं। आप ग्रियर्सन साहब के मित्र थे। आपने उन्हें भाषा के इतिहास आदि के प्रणयन में समय-समय पर विशेष योग दिया है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

गुलेरी जी संस्कृत के विद्वान थे। नवयुग के हिन्दी पत्रों में 'सरस्वती' के साथ ही आप के जयपुर से प्रकाशित होने वाले 'समालोचक' का नाम आता है। आपकी भाषा स्पष्ट, सरल, व्यावहारिक और चटपटे मुहाविरेदार होती थी। आपकी शैली में स्फूर्ति और अपूर्व

भावुकता है। आपकी भाषा में संस्कृत के साथ अङ्गरेजी शब्दों का भी असाधारण प्रयोग है। उनके गम्भीर लेखों का गद्य प्रौढ़ और अपरिमार्जित है, किन्तु विषय के निरूपण में कहीं-कहीं अग्राहिता आ गयी है। आपकी आलोचना-प्रणाली में मर्म-भेदी आघात रहता है। गुलेरीजी ने एक कहानी भी लिखी है। वह सर्वश्रेष्ठ कहानियों में गिनी जाती है। कहानी की भाषा कैसी चलती हुई है इसका पता नीचे के अवतरण से लग जायगा :—

'स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते ही पहिचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमक-हलाली का मौक़ा आया है। पर सरकार ने हम बीबियों (स्त्रियों) की एक घँघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती! एक बेटा है। फ़ौज में भर्ती हुए उसे एक ही वर्ष हुआ। उसके पीछे चार और हुए पर एक भी नहीं जिया।"

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

सूबेदारनी रोने लगी—"अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है; एक दिन टाँगे वाले का घोड़ा दही वाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की टाँगों में चले गये थे और मुझे उठाकर दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।"

आलोचनात्मक भाषा में दूसरे ढङ्ग की शैली है और उसकी रवानी भी दूसरे प्रकार की है। सारांश में, इनकी शैली बड़ी आकर्षक है, और उसमें इनका व्यक्तित्व निहित है। इनके निष्कर्ष जैसे निर्भीक थे शैली भी वैसी ही निर्भीक है। उर्दू-फ़ारसी के शब्द धड़ल्ले से प्रयुक्त किये गये हैं।

गुलेरी जी के साथ ही अध्यापक पूर्णसिंह का उल्लेख होता है। इन्होंने माधवप्रसाद मिश्र की भाँति कम लिख कर ही अपनी प्रतिभापूर्ण प्रौढ़ रचना परिलक्षित करा दी। इनकी शैली में भावप्रवर चञ्चलता और अक्लिष्ट संकेतात्मकता रहती है। भाषा सचिक्कण होते हुए भी उक्ति वैचित्र्य से ओत-प्रोत रहती है। वे ऊँची बात कहते हैं और अनोखे ढंग से कहते हैं। इनकी भावव्यञ्जना में एक आकर्षक सामंजस्य रहता है; तथा भावनाओं और विचारों को मिश्रित करने का ढंग अनूठा और भावुकतापूर्ण होता है। पूर्णसिंह जी के लेख 'सरस्वती' की पुरानी फ़ाइलों में मिल सकते हैं। उनके लेख का एक अंश नीचे दिया जाता है:—

अध्यापक पूर्णसिंह

"आचरण के आनन्द नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नये नये विचार स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं। सूखे काष्ट सचमुच हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नये नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य, जल, वायु, पुष्प, घास, पात, नर-नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुन्दर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।"

इस शैली में स्पष्टता का उतना आभास नहीं है जितना उलझाव के साथ भाव भड़भड़ाहट का। लेखक भावुकता की पैंग को परोक्ष की ओर बढ़ा ले गया है इसीलिए कल्पना क्लिष्ट हो गयी है। इनकी शैली

में उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग है। बाद में माखनलाल चतुर्वेदी के हाथों में पड़ कर इनकी शैली बहुत निखर उठी है। उसके बहुत से दोष नष्ट हो गये और उसमें नये मौलिक तथ्यों का प्रवेश हुआ है।

पद्मसिंह शर्मा अपनी तुलनात्मक आलोचनाओं से प्रसिद्ध हो गये हैं। उनमें काव्य की अनुभूति थी। उनकी भाषा में एक अजीब तड़क-भड़क रहती थी और हिन्दी के साथ उर्दू का अभिन्न मिश्रण मिलता था। यह सच है कि कला के वे गहरे अनुशीलक न थे। इसका प्रमाण उनकी अलोचना-पद्धति और उसकी भाषा में दृष्टिगोचर है। "हाय, हाय" और "वाह वाह" की बाढ़ आ जाने से उनकी विवेचना प्रणाली सफल नहीं कही जा सकती और न वह विशेष प्रभावात्मक ही है। उनका तथ्यातथ्य-निरूपण अन्तरभेदी न होकर उच्छृङ्खल कहा जायगा। वास्तव में उनका प्रवेश और क्षेत्र आलोच्य-रचना के शाब्दिक धरातल तक ही है। शब्दों की भावरूपकता अथवा कलाकार की आत्मानुभूति तक पहुँचते पहुँचते उनका भाव-प्रकाशन निर्बल पड़ जाता है। कवि की प्रशंसा में वे बहुत कुछ उछल कूद सी करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि तुलनात्मक आलोचना की परिपाटी हिन्दी में वस्तुतः पद्मसिंह शर्मा ही से आरम्भ होती है; किन्तु उनकी आलोचना मननसाध्य कहीं पर भी न हो पायी है। उनकी शैली से "एक अभद्र दुर्गंध निकलती है जो वास्तव में गम्भीर आलोचनात्मक प्रबन्धों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है।" इसका उदाहरण नीचे के अवतरण से मिल सकता है:—

पद्मसिंह शर्मा

" + + + + बिहारीलाल भी तो एकही काइयाँ ठहरे। वह कब चूकने वाले हैं पहलू; बदलकर मज़मून को साफ़ ले ही तो उड़े।

\+ + + + +

" वाह उस्ताद क्या कहने हैं! क्या सफ़ाई खेली है! काया ही पलट दी। कोई पहचान सकता है? बात वही है। देखिये तो आलम ही

निराला है। क्या तानकर 'शब्दवेधी' नावक का तीर मारा है? लुटा ही तो दिया। एक 'अनियारेपन' ने धवल कृष्ण-पक्ष वाले सब को एक अनी की नोक में बाँध कर एक ओर रख दिया। और वाहरी 'चितवन'! तुम्हारी चितवन की ताब भला कौन ला सकता है? फिर 'सुन्दरी' और 'तरुणि' में भी कहते हैं, कुछ भेद है। एक वशीकरण का ख़ज़ाना है तो दूसरी खान है। और 'सुजान' तो फिर कविता की जान ही ठहरी। इस एक पद पर तो एँड़ी से चोटी तक सारी गाथा ही कुर्बान है।"

यह है आपकी आलोचनात्मक भाषा। यहाँ पर हमें "बिना ज़रूरत के जगह जगह चुहलबाज़ी और शाबाशी का महफ़िली तर्ज़" मिलती है। काशी के 'दीन जी' ने भी आलोचना पद्धति में बहुत हद तक आपका अनुकरण किया है। किन्तु उनके सहज भावमय निबन्धों की भाषा अपेक्षाकृत अधिक संयत और ओजमयी है। यहाँ पर पद्मसिंह की अंतिम पुस्तक का एक अंश दिया जाता है।

"हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का झगड़ा कोई सौ बरस से चल रहा है। आज तक इसका फ़ैसला नहीं हुआ कि इनमें से भाषा का कौन सा रूप राष्ट्र-भाषा समझा जाय और कौन सी लिपि राष्ट्र-लिपि ठहरा ली जाय।

पद्मसिंह शर्मा

हिन्दी वाले चाहते हैं कि ऐसी विशुद्ध भाषा का प्रचार हो जिसमें संस्कृत तत्सम् शब्दों का प्राचुर्य रहे, और यदि सरलता अपेक्षित हो तो तद्भवों से ही कार्य लिया जाय। विदेशी भाषा के शब्दों का भरसक वहिष्कार हो, प्रत्युत जहाँ आवश्यकता विवश करे वहाँ संस्कृत से पारिभाषिक शब्द भी गढ़ लिये जायँ। कुछ

विशुद्धतावादियों के मत में तो 'लालटेन' का प्रयोग करना अशुद्धि के अन्धकार में पड़ना है, उसके स्थान पर वह 'दीप-मन्दिर' या "हस्त-काँच-दीपिका" का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझेंगे।

उर्दू वाले नये नये मुअर्रब और मुफ़र्रस अल्फ़ाज़ तक से गुरेज़ करते हैं और उनके बजाय अरबी और फ़ारसी की मुस्तनद लुग़ात से इस्तलाहात नौ-ब-नौ से अपने तर्ज़े तहरीर में ऐसा तसन्नो पैदा करते हैं कि उनका एक एक फ़िक़रा 'ग़ालिब' के बाज़ मुश्किल मिसरों की पेचीदगी पर भी ग़ालिब आ जाता है और बसा औक़ात अल्फ़ाज़ की नशिस्त ऐसी होती है कि जुमले के जुमले इतनी बात के मोहताज होते हैं कि ख़ालिस फ़ारसी (अजमी) शक्ल अख़्तियार करने में सिर्फ़ हिन्दी अफ़आल में तब्दील कर दिया जाय और बस।"

विशुद्ध हिन्दी और फ़सीह उर्दू-ए-मुअल्ला की एक दरम्यानी सूरत का नाम "हिन्दुस्तानी" कहा जाता है, जिसमें सक़ील और ग़ैर-मानूस अरबी फ़ारसी अल्फ़ाज़ और दुरुह तथा दुर्बोध संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों से जहाँ तक हो सके बचने की कोशिश की जाती है और इस पर ध्यान रक्खा जाता है कि नित के कारबार में जो शब्द और मुहावरे बोल-चाल में काम आते हैं वही पोथियों में और अख़बारों में भी बरते जायँ।

इन तीनों रूपों में एक-एक कठिनाई है। विशुद्ध हिन्दी और ख़ालिस उर्दू पुस्तकों और समाचार-पत्रों के बाहर, बहुत ही कम काम में आती है। पण्डितों के व्याख्यान और मौलवियों के खुतबे मुश्किल से सुनने वालों की समझ में आते हैं, और इनका दायरा बहुत ही महदूद है—क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है। हिन्दुस्तानी में यह कठिनाई है कि शास्त्रों के गूढ़ और गहन विषयों पर जब कभी कोई ग्रन्थ या लेख लिखना पड़ता है तो लेखक अपने शब्द-भण्डार को काफ़ी नहीं पाता और अपने 'हिन्दुस्तानी' के दायरे को छोड़ कर

कभी उसे खालिस उर्दू की तरफ़ और कभी विशुद्ध हिन्दी की ओर झुकना पड़ता है और उनसे परिभाषाएं या इस्तलाहें उधार लेनी पड़ती हैं"।

ऊपर का अंश आपके उस व्याख्यान से लिया गया है जो आपने 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' के आमन्त्रण पर दिया था। वह अब पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक का नाम है "हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी" और यह हिन्दुस्तानी एकेडमी से प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक की भाषा के सम्बन्ध में यथेष्ट चर्चा हुई है; किन्तु इसमें वास्तव में उनका स्वतन्त्र अंश बहुत कम है, अधिकांशतः उर्दू के मौलवी मुल्लाओं तथा अन्य विद्वानों के कथन और विचार उल्लिखित हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

उपाध्यायजी की साहित्यिक महत्ता काव्य की काया-पलट कर देने तक ही सीमित नहीं है। आपने गद्य की नवीन प्रगति का यथार्थ पर्यवेक्षण कर 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नामक दो पुस्तकें लिखी हैं। अपनी इन रचनाओं में बिलकुल बोलचाल की भाषा की प्रतिष्ठा करके आपने हिन्दी में संस्कृत का बाहुल्य रोकने की ओर इशारा कर दिया है। मुहाविरों का सुन्दर प्रयोग करने में उपाध्यायजी का असाधारण अधिकार है। आपकी "ठेठ भाषा" आडम्बर-शून्य तो है ही, उसमें ग्रामीणता अथवा उर्दूदानी भी नहीं झलकने पायी है। इनके स्थान पर यहाँ पद्य की सरसता प्रवाहित है। आपकी आलङ्कारिक भाषा में शब्द-बाहुल्य खटकता नहीं है। सम्भवतः इसी के कारण आपकी शैली में वाक्य-विस्तार दिखायी पड़ता है। आपकी भाव-व्यञ्जना कैसी हृदयग्राही होती है इसका नमूना नीचे के अवतरण से मिल सकता है :—

"हम आसमान के तारे तोड़ना चाहते हैं, मगर काम आँख के तारे भी नहीं देते। हम पर लगाकर उड़ना चाहते हैं, मगर उठाने से पाँव

भी नहीं उठते। हम पालिसी पर पालिश करके उसके रङ्ग को छिपाना चाहते हैं, पर हमारी यह पालिसी हमारे बने हुए रङ्ग को भी बदरङ्ग कर देती है। हम राग अलापते हैं मेल-जोल का, मगर न जाने कहाँ का खटराग पेट में भरा पड़ा है। हम जाति-जाति को मिलाने चलते हैं, मगर ताब अछूतों से आँख मिलाने की भी नहीं। हम जाति-हित की तानें सुनने के लिए सामने आते हैं, मगर ताने दे देकर कलेजा छलनी बना देते हैं। हम कुल हिन्दू जाति को एक रङ्ग में रँगना चाहते हैं, मगर जाति-जाति के अपनी-अपनी डफली और अपने-अपने राग ने रही सही एकता को भी धता बता दिया है। हम चाहते हैं देश को उठाना, पर आप मुंह के बल गिर पड़ते हैं। हमें देश की दशा सुधारने की धुन है, पर आप सुधारने पर भी नहीं सुधरते। हम चाहते हैं जाति की कसर निकालना, मगर हमारे जी की कसर निकाले भी नहीं निकलती। हम जाति को ऊँचा उठाना चाहते हैं, पर हमारी आँख ऊँची होती ही नहीं। हम चाहते हैं जाति को जिलाना, मगर हमें मर मिटना आता ही नहीं।"

अयोध्यासिंह उपाध्याय

पुनरुक्ति के झंझावात से विवर्ण अनुप्रास और यमकपूर्ण होने पर भी आपकी शैली इतनी भाव-प्रधान है कि आलङ्कारिक किरकिराहट उत्पन्न नहीं हुई है।

ऊपर वाले अवतरण को निम्नलिखित अवतरण से मिलाइये :—

"कबीर साहब की शिक्षाओं को आप पढ़िये, मनन कीजिये उनके मिथ्याचार-खण्डन के अदम्य और निर्भीक भाव को देखिये, उनकी सत्यप्रियता अवलोकन कीजिये। उनमें आपको अधिकांश

हिन्दू भावों की ही प्रभा मिलेगी। यदि आपकी रुचि और विचार के प्रतिकूल कुछ बातें उसमें मिलें, तो भी उसे आप देखिये और उसमें से तत्व ग्रहण कीजिये, क्योंकि विवेकशील सज्जनों का मार्ग यही है। नाना विचार देखने से ही मनुष्य को अनुभव होता है। कबीर साहब भी मनुष्य थे। उनके पास भी हृदय था। कुछ संस्कार उनका भी था। अतएव समय के प्रवाह में पड़कर, हृदय पर आघात होने पर, संस्कार के प्रबल पड़ जाने पर, उनके स्वर का विकृत हो जाना असम्भव नहीं। उनका कटु बातें कहना चकितकर नहीं। किन्तु यदि आप उन्हें नहीं पढ़ेंगे, तो अपने विचारों को मर्यादापूर्ण करना कैसे सीखेंगे। वे प्रतिमा-पूजन के कट्टर विरोधी हैं, अवतार-वाद को नहीं मानते; परन्तु इससे क्या? परमात्मा की भक्ति करना तो बतलाते हैं, आपको ईश्वर-विमुख तो नहीं करते!

हिन्दू धर्म का चरम लक्ष यही तो है। आपके कुल साधनों को वे काम में लाना नहीं चाहते, न लावें; परन्तु जिन साधनों को वे काम में लाते हैं, वे भी तो आप ही के हैं। यह रुचि-वैचित्र्य है। रुचि-वैचित्र्य स्वाभाविक है। हिन्दू-धर्म उसको ग्रहण करता है, उससे घबराता नहीं। वे वेद-शास्त्र की निन्दा करते हैं, हिन्दू महापुरुषों को उन्मार्गगामी बतलाते हैं, हिन्दू धर्म-नेताओं की धूल उड़ाते हैं। यह सत्य है। परन्तु उनके पन्थवालों के साथ आप ऐक्य कैसे स्थापन करेंगे, जब तक इन विचारों को न जानेंगे। इसके अतिरिक्त जब वे वेद-शास्त्रों के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन करते हैं, हिन्दू महापुरुषों के ही प्रदर्शित पथ पर चलते हैं, हिन्दू धर्म नेताओं की प्रणाली का ही अनुसरण करते हैं, तब उनका उक्त विचार स्वयम् एकदेशी हो जाता है और रूपान्तर से आपकी ही इष्ट प्राप्ति होती है। विवेकी पुरुष काम चाहता है, नाम नहीं। परमार्थ के लिए वह अपमान की परवाह नहीं करता। वे मिथ्याचारों का प्रतिवाद तीव्र और असंयत भाषा में करते हैं, परन्तु हमें उसे सह्य करना चाहिए। दो विचारों से। एक तो यह

कि यदि हमने वास्तव में धर्म के साधनों को आडम्बर बना लिया है, तो किसी न किसी के मुख से हमको ऐसी बातें सुननी ही पड़ेंगी। दूसरे यह कि यदि ये अधिकांश अमूलक हैं, तो भी कोई क्षति नहीं।"

इस शैली की फैलाव-प्रियता हट नहीं सकी। इसमें सम्भाषणपने का प्राबल्य है। समझदारी से लेखनी नहीं चली है। जो कुछ भी अनर्गल ध्यान में आया है उसकी भरती की गयी है। विषय और शैली दोनों में कच्चापन है।

'कबीर वचनावली' के उपोद्घात स्वरूप में आपने जो भूमिका लिखी है उसमें अधिकांश में 'प्रिय-प्रवासत्व' के आधिक्य से बड़ा रूखापन और फैलाव आ गया है। ऐसी शैली का परित्याग करके उपाध्याय जी ने अच्छा ही किया। इधर कुछ दिनों से उपाध्याय जी ने गद्य और पद्य दोनों ही में मुहावरों का चमत्कारपूर्ण प्रयोग करने का बीड़ा उठा लिया है।

मन्नन द्विवेदी का नाम उन लेखकों में स्मरणीय है जो अपनी प्रखर प्रतिभा लेकर गद्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, किन्तु दैवयोग से वे थोड़ा ही लिख पाये। आप व्रजभाषा के अच्छे कवि और हिन्दी के प्रौढ़ गद्य लेखक थे।

मन्नन द्विवेदी गजपुरी

आपका लिखा गद्य, मिश्रित भाषा का बहुत अच्छा रोचक उदाहरण है। आप संस्कृत और फ़ारसी के साथ ठेठ शब्दों का व्यवहार करते हुए सुन्दर मुहावरे-बन्दी और वाक्यावतरण की छटा दिखा देते थे। आपकी शैली में असाधारण ओज और प्रबल वर्णन-शक्ति है। आप अपनी व्यञ्जना-प्रणाली को स्थान-स्थान पर उपयुक्त दृष्टान्तों द्वारा प्रगल्भ और मार्मिक बना देते थे। आपकी भाषा की उर्दूदानी वस्तुतः भाव-प्रकाशन के अनुरूप ही है; उसमें राजा शिवप्रसाद की सी कहीं पर भी कृत्रिमता नहीं आने पायी है। वर्णन में प्रवाह और कथन में आवेश, यही आपकी मिश्रित शैली का हेतु है। इसके अतिरिक्त

आपके विषय-निरूपण की विधि में भी आपकी मानसिक शक्ति प्रकट है। "मुसलमान राज्य के इतिहास" से लेखक की मनन-शीलता स्पष्ट होती है, तथा वह इस बात का भी प्रमाण है कि आपका तत्व-निरूपण इतिहास के बाह्य उपादानों की अपेक्षा चरित्र की अन्तर-वृत्तियों क किस प्रकार अधिक निकट है। आपका वाग्-विस्तार भी द्विवेदीजी की भाँति ही रोचक और सजीविता लिये है। आपकी शैली में न तो शुद्धि-वादी संस्कृतज्ञों की शाब्दिक दुरूहता ही रहती है और न अनुचित रूप से फ़ारसी का ही मिश्रण। आपने जो कुछ थोड़ा सा लिखा है उसमें समीचीन और सचिक्कण गद्य के दर्शन मिल जाते हैं, तथा यह आभास भी मिलता है कि आपमें एक धुरन्धर गद्य-लेखक के लक्षण और गुण थे। साथ ही जो दो चार छोटी-छोटी जीवनियाँ आपने लिखी हैं उनमें असाधारण और सरल बचा-पन है। महादेव गोविन्द रानाडे की जीवनी भी इसी शैली में है।

गणेश शङ्कर विद्यार्थी

मुझे इनके साथ सम्पादन-कार्य का अवकाश मिला है। इनके पतले शरीर से भावुकता छनती थी। इनकी लेखनी में, इनकी वाणी में ओजगुण समान रूप से मौजूद था। इनकी लेखन-शैली सम्पूर्ण रूप से रागात्मक है। इनका अध्ययन उर्दू और हिन्दी दोनों का ही था। इसीलिए इनकी भाषा में हिन्दी उर्दू की गङ्गा-जमुनी शैली सर्वत्र दिखायी देती थी। साहित्य का चाहे इनका बहुत गहरा अध्ययन न हो, परन्तु ये राजनीति के अच्छे विद्यार्थी थे। देश की परतन्त्रता की बुराइयों से, गरीबों के आर्तनाद से, श्रम-जीवियों के उत्पीड़न से, गणेश शङ्कर जितना परिचित थे उतने परिचित बहुत कम देश के नेता होंगे। इसी कारण इनका मनोभाव युद्ध का और निर्भीकता का बन गया था। देश की हीनावस्था के चित्र खींचने में इनकी वृत्ति जितनी लीन होती थी, युद्ध-भावना उकसाने के लिए उससे भी अधिक। शासन की आलोचना करने में विद्यार्थी जी की

व्यङ्गात्मक ललकार में महावीर प्रसाद द्विवेदी का चुटीलापन है और प्रतापनारायण मिश्र की धुन। वास्तव में इन दोनों लेखकों की गहरी छाप इनकी शैली में है। इनका स्थायी भाव तीव्र अशान्ति है अतएव जितने भी, जिस प्रकार के भी लेख इन्होंने लिखे हैं उनमें इस भावना की तीव्र अभिव्यञ्जना है और राजनैतिक कोण से वे सँवारे गये हैं। नीचे उनके एक लेख का एक पैराग्राफ़ दिया जाता है :—

"महानपुरुष! निस्सन्देह महान पुरुष! भारतीय इतिहास के किस रत्न में इतनी चमक है? स्वतन्त्रता के लिए किसने इतनी कठिन परीक्षा दी? देशभक्त लेकिन देश पर एहसान जताने वाला नहीं, पूरा राजा लेकिन स्वेच्छाचारी नहीं। उसकी उदारता और दृढ़ता का सिक्का शत्रुओं तक ने माना। शत्रु से मिले भाई शक्तिसिंह, पर उसकी दृढ़ता का जादू चल गया। अकबर का दरबारी पृथ्वीराज उसकी कीर्ति गाता था। भील उसके इशारे के बंदे थे। सरदार उसपर जानें न्योछावर करते थे। भामाशाह ने उसके पैरों पर सब कुछ रख दिया। विभीषण मानसिंह उससे नज़र नहीं मिला सकता था। अकबर उसका लोहा मानता था। ख़ानख़ाना उसकी तारीफ़ में पद्य रचना करना पुण्य-कार्य समझता था। जानवर भी उसे प्यार करते थे, और घोड़े चेतक ने उसके ऊपर अपनी जान न्योछावर कर दी। स्वतन्त्रता देवी को वह प्यारा था और वह उसे प्यारी थी। चित्तौड़

गणेश शङ्कर विद्यार्थी

का वह दुलारा था और चित्तौड़ की भूमि उसे दुलारी थी। उदार इतना कि बेगमें पकड़ी गयीं और सन्मान सहित वापिस भेज दी गयीं। सेनापति फ़रीदखाँ ने क़सम खायी कि प्रताप के खून से मेरी तलवार नहायेगी, प्रताप ने सेनापति को पकड़ कर छोड़ दिया।"

इस खण्ड में भी राष्ट्रीयता के कशाघात से भावुकता दौड़ी दौड़ी घूम रही है। राष्ट्रीयता और वीरता की प्रतिमूर्ति राना को ही समझ कर लेखक की पूज्य बुद्धि उसकी आराधना कर रही है।

गणेश शङ्कर सफल पत्रकार थे। 'प्रताप' इसका प्रमाण है। सम्पादन-कला में वे इतने पटु थे कि चाहे जैसा लेख क्यों न हो इधर उधर लेखनी को थोड़ा दौड़ा कर उसे ऐसा सजीव कर देते थे कि मानो वह उन्हीं का लिखा है। उनके पास सीखे हुए बहुत से नवयुवक आज हिन्दी के अच्छे लेखक और पत्रकार बने हुए हैं। बालकृष्ण शर्मा को गणेश शङ्कर का पूर्ण शिष्य और उत्तराधिकारी कहा जा सकता है। राजनीति की निर्भीकता के साथ साथ क़लम की निर्भीकता भी बालकृष्ण शर्मा ने उनसे ही सीखी। बालकृष्ण अधिक संस्कृतज्ञ हैं अतएव उनकी आलोचनाओं में बड़े-बड़े शब्दों के ढेले अधिक रहते हैं और वाक्यों का लट्ठ भी लम्बा रहता है। कुछ आयु के प्रभाव, कुछ उग्रता के प्रभाव और कुछ कुटुम्ब में अकेलेपन के प्रभाव ने बालकृष्ण को अधिक तीव्र और अधिक मृदु-कटु बना दिया है। इनके दूसरों निकट अनुयाइयों में श्री कृष्णदत्त पालीवाल और दशरथ प्रसाद द्विवेदी कहे जाते हैं। इन दोनों सज्जनों ने सम्पादन-कार्य आप की ही अधीनता में सीखा और पृथक रूप से 'सैनिक' और 'स्वदेश' निजी पत्र निकाले। इन दोनों सज्जनों की शैलियों पर गणेशजी की अच्छी छाप है। वैसे रमाशङ्कर अवस्थी विष्णुदत्त शुक्ल, देवव्रत शास्त्री इत्यादि महानुभावों पर भी गणेश शंकर की सम्पादन कुशलता का असर है।

गणेश शङ्कर अनुवाद करने में बड़े दक्ष और बड़े तेज़ थे। उन्होंने

कुछ राजनैतिक उपन्यासों का विदेशी भाषा से अनुवाद किया है। उन्होंने कुछ विनोदात्मक लेख भी लिखे हैं, और उनपर प्रताप नारायण मिश्र का पूर्ण प्रभाव दिखायी पड़ता है, परन्तु भाषा में उन्होंने अपना आदर्श महावीर प्रसाद ही को रक्खा। फ़ारसी शब्दों की अधिकता और भावात्मकता का गहरा प्रभाव होने के कारण वे महावीर प्रसाद द्विवेदी से भी स्पष्ट रूप से प्रथक दिखायी देते हैं। किन्तु उनका कार्यक्षेत्र राजनीति था साहित्य नहीं। शैली की उपरोक्त विवेचना में ऊपर का अवतरण प्रतिनिधि तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु किसी अंश तक उनकी शैली के तत्व इसमें मिल सकेंगे। उनकी कृतियों में सर्वत्र स्पष्टता उनकी एक विशेषता है। बहुधा यह देखा गया है कि भावात्मक शैली के लेखकों के अभिव्यञ्जन में कुछ दुरूहता, अस्पष्टता और क्रमहीनता आ जाती है; परन्तु यह बात गणेश शङ्कर में बिलकुल नहीं है।

प्रेमचन्द

प्रेमचन्द का साहित्यिक क्षेत्र निश्चित है। वे पहले उर्दू में लिखते रहे, बाद में हिन्दी की ओर झुके। उन्होंने मर्म-स्पर्शी कहानियाँ और सुन्दर उपन्यास लिख कर हिन्दी की जो सेवा की है वह अनुपम और अतुलनीय है। प्रेमचन्द जी ने जितना अकेले लिखा है उतना कई उपन्यासकार मिल कर भी नहीं लिख सके। उत्कर्ष की दृष्टि से और विशदता की दृष्टि से, प्रेमचन्द अपने वर्ग और अपने युग के हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानी और उपन्यास लेखक हैं। उनकी कृतियों को अन्य भाषाओं में अनुवादित होने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। इधर उनके कुछ नाटक भी क्षेत्र में आये हैं। कुछ लोगों का कथन है कि उनमें प्रेमचन्द को सफलता नहीं मिली। हम इस कथन से पूर्ण-रूप से सहमत नहीं।

प्रेमचन्द जी के उपन्यास हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति है। आप हिन्दी के प्रथम उत्कृष्ट मौलिक उपन्यास-लेखक हैं। वैसे तो

भारतेन्दु जी के दिनों में ही उपन्यास-रचना आरम्भ हो गयी थी। लाला श्री निवासदास को "परीक्षागुरु" लिखे पूरी एक आयु समाप्त हो चुकी थ ैकड़ों अनुवाद हुए और बीसियों तिलिस्मी और ऐय्यारी के पिटारे खुले, किन्तु जो नाम को सार्थक बनाने वाली वस्तु आपने भेंट की उसकी समता पहले तो क्या आज भी किसी में करने की क्षमता नहीं है। प्रेमचन्द जी की रचनाओं के समक्ष पहले के उपन्यास ऊसर के ठूंठ जान पड़ते हैं। कथानक, भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण आदि सभी बातों में आपके उपन्यास बेजोड़ ठहरते हैं। आपका चित्रण, स्वाभाविक, हृदयहारी और भावाभिव्यञ्जन, आत्मा के अन्तस्तल तक के मनोविकारों को मथ कर निकाला हुआ, नवनीत है। मनुष्य-जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति का मनोवैज्ञानिक चित्र आप इनके बाएँ हाथ से खिँचवा लीजिये। इनके तत्व-निदर्शन में हमें कला का परिपाक मिलता है और मानवता की तह तक पहुँचने में भावुक दार्शनिकता का। लेखनी की इसी विभूति के बल पर आपने औपन्यासिक जगत में जो स्थान प्राप्त किया है वह स्थायी और अक्षुण्ण बोध होता है।

प्रेमचन्द

प्रेमचन्द आपका साहित्यिक नाम है। वास्तव में आपका नाम धनपतराय है। आप अङ्गरेज़ी के अतिरिक्त फ़ारसी के भी पण्डित हैं। पहले आप उर्दू के एक लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक थे। 'ज़माना' में आपकी प्रकाशित रचनाएं उर्दू जगत में हवा बाँध देने वाली होती थीं। जब आपने हिन्दी को अपनाया तब उर्दू पत्र-पत्रिकाओं ने चीत्कार करना आरम्भ कर दिया था। प्रारम्भ की लिखी आपकी हिन्दी में अनेक

दोष देखे गये हैं। भाषा में व्याकरण सम्बन्धी व्यतिक्रम प्राय: लोग निहारा करते थे। आपकी शैली में जो प्रवाह रहता है उसके वेग में इन कङ्कड़ों पर बहुत कम दृष्टि ठहरती है। प्रेमचन्द जी का एक भारतीय किसान का चित्रण देखिये :—

"सीधे सादे किसान, धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। दिव्य समाज की भाँति वे पहले अपने भोग-विलास की ओर नहीं दौड़ते। सुजान की खेती में कई साल से कञ्चन बरस रहा था। मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे, पर सुजान के चन्द्रमा बली थे, ऊसर में भी दाना छींट आता तो कुछ न कुछ पैदा हो जाता था। तीन वर्ष लगातार ऊख लगती गयी; उधर गुड़ का भाव तेज़ था, कोई दो ढाई हज़ार हाथ में आ गये। बस, चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पड़ी। साधु-सन्तों का आदर-सत्कार होने लगा, द्वार पर धूनी जलने लगी।

कानूनगो इलाक़े में आते, तो सुजान महतो की चौपाल में ठहरते। हल्क़े के हैड कांस्टेबिल, थानेदार, शिक्षा-विभाग के अफ़सर, एक-न एक उस चौपाल में पड़ा ही रहता। महतो मारे .खुशी के फूले न समाते। धन्य भाग्य! उनके द्वार पर इतने बड़े बड़े हाकिम आकर ठहरते हैं। जिन हाकिमों के सामने उनका मुँह न खुलता था, उन्हीं की अब महतो-महतो कहते ज़बान सूखती थी। कभी कभी भजन-भाव हो जाता। एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा तो गाँव में आसन जमा दिया। गाँजे और चरस की बहार उड़ने लगी। एक ढोलक आयी, मँजीरे मँगवाये गये, सत्सङ्ग होने लगा। यह सब सुजान के दम का ज़हूरा था। घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कण्ठ-तले एक बूँद जाने की भी क़सम थी। कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग।"

इस अंश के सजीव वर्णन में कैसी ज़िन्दा शैली का आश्रय लिया गया है। बीच बीच में व्यङ्ग की ध्वनि भी है। जन समूह का कैसा

जीता जागता मनोभाव है, उसका भी चित्रण उसी मुहावरेदार भाषा में देखिये :—

"दुनिया सोती थी, पर दुनिया की जीभ जागती थी। सवेरे ही देखिये बालक, वृद्ध सब के मुँह से यही बात सुनायी देती थी। जिसे देखिये, वही पण्डित जी के इस व्यौहार पर टीका-टिप्पणी करता था। निन्दा की बौछार हो रही थी, मानो संसार से अब पाप का पाप कट गया। पानी को दूध के नाम से बेचने वाला ग्वाला, कल्पित रोज़नामचे भरने वाला अधिकारीवर्ग, रेल में बिना टिकट सफ़र करने वाले बाबू लोग, जाली दस्तावेज़ बनाने वाले सेठ और साहूकार सब के सब देवताओं की भाँति गरदनें हिला रहे थे"।

प्रकृति वर्णन की शब्द-योजना देखिये—

"वही अमावस्या की रात्रि थी। स्वर्गीय दीपक भी धुँधले हो चले थे। उनकी यात्रा सूर्य्यनारायण के आने की सूचना दे रही थी।"

दरिद्रता के चित्रण में अनात्मीयता के साथ रागात्मिकता का कैसा समन्वय है।

"प्रातःकाल महाशय प्रवीण ने बीस दफ़ा उबाली हुई चाय का प्याला तैयार किया और बिना शक्कर और दूध के पी गये। यही उनका नाश्ता था। महीनों से मीठी दूधिया चाय न मिली थी। दूध और शक्कर उनके लिए जीवन के आवश्यक पदार्थों में न थी। घर में गये ज़रूर कि पत्नी को जगाकर पैसे माँगें, पर उसे फटे-मैले लिहाफ़ में निद्रा-मग्न देखकर जगाने की इच्छा न हुई। सोचा; शायद मारे सर्दी के बेचारी को रात भर नींद न आयी होगी, इस वक्त जा कर आँख लगी है। कच्ची नींद जगा देना उचित न था, चुपके से चले आये।"

इस वर्णन में अभिव्यञ्जन की उछल-कूद नहीं है परन्तु निराश्रयता की सादगी है।

मनोभाव के सूक्ष्म विश्लेषण का चित्रण भी प्रेमचन्द्र की

अपनी भाषा में देखिये। मन के भीतर पहुँचने की कितनी गहरी क्षमता है। अभिव्यञ्जन में कितनी सूक्ष्मता है और सुकुमार कथनों के कौशेय धागे में मनोभावों का कैसा चलता फिरता निदर्शन है।

"केशव घर से निकला, तो उसके मन में कितनी ही विचार तरंगे उठने लगीं। कहीं सुभद्रा मिलने से इनकार न कर दे, तो! नहीं ऐसा नहीं हो सकता। वह इतनी अनुदार नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि वह अपने विषय में कुछ न कहे। उसे शान्त करने के लिए उसने एक व्यथा की कल्पना कर डाली। मैं ऐसा बीमार था कि बचने की आशा न थी। उर्मिला ने ऐसा तन्मय होकर उसकी सेवा शुश्रुषा की कि उसे उससे प्रेम हो गया। व्यथा का जो असर सुभद्रा पर पड़ेगा, इसके विषय में केशव को कोई संदेह न था। परिस्थिति का बोध होने पर, वह उसे क्षमा कर देगी। लेकिन इसका फल क्या होगा? क्या वह दोनों के साथ एक सा प्रेम कर सकता है?

सुभद्रा के देख लेने के बाद उर्मिला को उसके साथ में रहनेमें आपत्ति न हो। आपत्ति हो ही कैसे सकती है। उससे यह बात छिपी नहीं है। हाँ, यह देखना है कि सुभद्रा भी इसे स्वीकार करती है, या नहीं। उसने जिस उपेक्षा का परिचय दिया है, उसे देखते हुए तो उसे मानने में संदेह ही जान पड़ता है। मगर वह उसे मनावेगा, उसकी विनती करेगा, उसके पैरों पड़ेगा और अन्त में उसे मना कर ही छोड़ेगा। सुभद्रा के प्रेम और अनुराग का नया प्रमाण पा कर वह मानों एक कठोर निद्रा से जाग उठा था। उसे अब अनुभव हो रहा था कि सुभद्रा के लिए उसके हृदय में जो स्थान था, वह खाली पड़ा हुआ है। उर्मिला उस स्थान पर अपना आधिपत्य नहीं जमा सकती। अब उसे ज्ञात हुआ कि उर्मिला के प्रति उसका प्रेम केवल वह तृष्णा थी, जो स्वादयुक्त पदार्थों को देख कर ही उत्पन्न होती है। वह सच्ची क्षुधा न थी। अब फिर उसे उसी सरल सामान्य भोजन की इच्छा हो रही थी। विलासिनी उर्मिला कभी इतना त्याग कर सकती

थी, इसमें उसे सन्देह था।"

'सात्त्विक' भावों के वर्णन में भी उनका शब्द-कोष भरा पूरा और वेगवान है। एक उदाहरण देखिये:—

"अरब सिर पकड़ कर वहीं बैठ गया। उसकी आँखें सुर्ख हो गयीं गरदन की नसें तन गयीं मुख पर अलौकिक तेजस्विता की आभा दिखायी दी। नथुने फड़कने लगे। ऐसा मालूम होता था कि उसके मन में भीषण द्वंद्व हो रहा है और वह समस्त विचार-शक्ति से अब अपने मनोभावों को दबा रहा है। दो तीन मिनट तक वह इसी उग्र अवस्था में बैठा धरती की ओर ताकता रहा। अन्त को अवरुद्ध कंठ से बोला—नहीं, नहीं, शरणागत की रक्षा करनी चाहिए। आह! ज़ालिम! तू जानता है मैं कौन हूँ। मैं उसी युवक का अभागा पिता हूँ जिसकी आज तूने इतनी निर्दयता से हत्या की है। तू जानता है तूने मुझ पर कितना बड़ा अत्याचार किया है? तूने मेरे खानदान का निशान मिटा दिया है? मेरा चिराग़ गुल कर दिया।"

उर्दू की रवानी इनके कथोपकथन को सजीव बनाये रहती है। कथानक में प्रसंगबद्धता और विषय को मोड़ देने में स्वाभाविकता और चातुरी रहती है। पाठकों को एक उलझन में डालकर भी उनका कौतुहल आपकी मुट्ठी में बंद रहता है। प्रायः उनके वाक्य आशय की ओर संकेत करके ही शान्त हो जाते हैं, जिससे कि प्रसंग में एक विचित्र सुन्दरता आ जाती है। चार, छः वाक्यों के बाद एक मर्म-भेदिनी उक्ति गूंथ देना आपकी विशेषता है। यही नहीं, व्यंग में आपकी फब्तियाँ ग़ज़ब ढाती हैं। मुस्लिम संस्कृति से आप विशेष आकृष्ट दिखायी देते हैं। संभवतः यही कारण है कि इस्लाम के धार्मिक कृत्य, सैद्धांतिक कर्मों आदि पर आपके विचार सहानुभूति-सूचक और सुन्दर हैं। आपका लिखा 'कर्बला' नाटक इसकी पुष्टि करता है।

आपकी लेखनी का सम्मान बहुधा यथार्थवाद की ही ओर

रहता है। आपके इतिवृत्तात्मक कथानकों में विचित्रता अथवा चमत्कार भले ही न हो, किन्तु उनमें विश्व की गम्भीर दार्शनिक अनुभूति रहती है। आपके लिखे उपन्यासों की संख्या शायद मैथिलीशरण जी की काव्य-कृतियों से भी अधिक होगी। दर्जनों उपन्यासों के साथ साथ जिनके नाम किसी भी इतिहास ग्रंथ में ढूंढ़े जा सकते हैं, आपने सैकड़ों कहानियां लिखी होंगी। एक सफल कहानीकार के लिए जो संसार का विस्तृत ज्ञान अपेक्षित है वह आपमें प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। एक ओर यदि आप दीन समाज में जीर्ण वस्त्रों से शरीर ढकने वाली मानवता का चित्र अंकित करते हैं, जिससे हृदय में करुणा का उद्रेक होता है तो अन्यत्र सत्ताधारी धनिकों का निर्दय व्यापार हमें क्षुब्ध कर देता है। जिस सरलता से आप ग्राम्य-जीवन खींचते हैं उसी ख़ूबी से सभ्य नागरिकों का राग और द्वेष वर्णन करते हैं।

मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त आपने गाल्सवर्दी के कई अंग्रेजी नाटकों का तथा अन्य फ्रेंच उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद किया है। किन्तु आपकी साहित्यिक प्रतिष्ठा में इन अनुवादित पुस्तकों का विशेष योग नहीं समझा जाता। आप बड़े सहृदय व्यक्ति हैं। बेचारे फर्मायशोंके मारे परेशान रहा करते हैं। यही कारण है कि आपकी कुछ कृतियाँ फर्मायशी उपज होने के कारण आपके नाम को सार्थक बनाने वाली नहीं हुई हैं। उनमें बहुत प्रकार के दोष हैं। उपदेशक के मञ्च पर बैठ कर कभी कभी वे कहानी लिखने लगते हैं। आपका जीवन बड़ा व्यस्त रहता है। गणेशशङ्कर विद्यार्थी की तरह कृशगात होने पर भी आप इतना लिखते हैं। मासिक 'हंस' और साप्तहिक 'जागरण' का सम्पादन भी आपने किया है। आप बहुत दिनों तक 'माधुरी' के भी सम्पादक रह चुके हैं। अपनी काहनियों में, मनुष्य के उत्थान-पतन का मनोवैज्ञानिक और सजीव चित्र आप जिस मार्मिक शैली से व्यञ्जित करते हैं, इसकी झाँकी किसी भी अच्छी कहानी में यथेष्ट मात्रा में मिलेगी।

प्रेमचंद जी की कहानियाँ एक प्रौढ़ युग की सामग्री हैं। वर्तमान

कहानी प्रगति से भी वे मेल खा जाती हैं और युगधर्म का एक स्वाभाविक आवरण उन पर रहता है। यही कारण है कि सुदृढ़ और सुस्वीकृत नैतिक आदर्शों को सन्दिग्ध करने वाली विप्लव-कारिणी-वृत्ति का उनकी अख्यायिकाओं में नितान्त अभाव है। वे आर्य-समाजी हैं, विधवा विवाह के पक्षपाती हैं, बाल-विवाह के प्रतिकूल हैं। वे अपने ढंग के सुधारक हैं परन्तु वह सुधार लोकधर्म के एक निश्चित स्वीकृति भित्ति पर आश्रित है। जीवन के सारे पहलुओं को हिलता हुआ देखना, सारे आदर्शों की सन्देह-भरी दृष्टि से समीक्षा करना, सम्पूर्ण पूरेपने में नितान्त अपूर्णता समझना, परमता में कमी अनुभव करना, इस युग की चिन्तना की विशेषताएँ हैं। इतनी हद तक प्रेमचन्द युग का साथ नहीं दे सकते। उनकी कृतियों में यही कमी है और यही उनका पिछड़ापन है।

छोटी कहानियों, उपन्यासों, नाटकों और कविताओं में सर्वत्र प्रसाद जी की शैली में एक ही रवानी है। वह संस्कृत के तत्सम् शब्दों से लदी हुई मन्द मन्द चलती है। कहीं कहीं पर नाटकों में यह शैली अस्वाभाविक सी मालूम पड़ती है, परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि उनके गहरे दार्शनिक विचारों को और उनके तीव्र अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करने के लिए यह शैली कृत्रिम है अथवा उपयुक्त नहीं है। प्रसाद जी ऊँचे कलाकार हैं और इन्हें अपनी अभिव्यक्ति को सवाँरने की आदत है। आपकी भाषा की दुरूहता कविता को और भी कठिन बना देती है। पुरातत्व के अच्छे विद्वान होकर और संस्कृत साहित्य का अच्छा अध्ययन करने के कारण, तत्सम स्वरूप हिन्दी के शब्द उनकी प्रणाली के अंग हो रहे हैं। आपकी लेखन शैली पर कदा- चित् श्यामसुन्दर दास का प्रभाव पड़ा है।

जयशंकर प्रसाद

संस्कृत शब्दों से विभूषित प्रसाद जी की शैली में संस्कृत शैली के दोष नहीं है। न उसमें आवश्यकता से बड़े वाक्य हैं और न लंबे 'समस्तपद'। जहाँ एक ओर अपनी शैली के कारण जयशंकर

आपके सुन्दर शरीर से अभिन्न हो कर हम लोगों की आँखों में भ्रम उत्पन्न कर देता है, वैसे ही आपको दुःख के झलमले अंचल में सिसकते हुए संसार की पीड़ा का अनुभव स्पष्ट नहीं हो पाता। आपको क्या मालूम कि बुद्धू के घर की काली-कलूटी हाँड़ी भी कई दिन से उपवास कर रही है। छुन्नू मूंगफली वाले का एक रुपये की पूँजी का खोनचा लड़कों ने उछल कूद कर गिरा भी दिया और लूटकर खा भी गये। उसके घर पर सात दिन की उपवासी रुग्ण बालिका मुनक्के की आशा में पलकें पसारे बैठी होगी या खाट पर पड़ी होगी।"

रस से सराबोर स्थलों की भाषा वैसे ही बोझीली है जैसे दार्शनिक मीमांसा की भाषा। सर्वत्र शैली की एक ही प्रथा है। इस विषय में अजातशत्रु का भी निम्नलिखित उद्धरण पढ़ने योग्य है :—

"बिंब०—कोमल पतियों को, जो अपनी डाली में निरीह लटका करती हैं, प्रभंजन क्यों झिझोड़ता ?

"वासवी—उसकी गति है। वह किसी को कहता नहीं कि तुम मेरे मार्ग में अड़ो, जो साहस करता है, उसे हिलना पड़ता है। नाथ! समय भी इस तरह चला जा रहा है। उसके लिए पहाड़ और पत्ती बराबर है।

"बिंब०—फिर उसकी गति तो सम नहीं है। ऐसा क्यों ?

"वासवी—यही समझने के लिए बड़े बड़े दार्शनिकों ने कई तरह की व्याख्याएँ की हैं। फिर भी प्रत्येक नियम में अपवाद लगा दिये हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपवाद नियम पर हैं या नियामक पर। सम्भवतः उसे ही लोग बवण्डर कहते हैं।

बिंबसार— तब तो देवि! प्रत्येक असम्भावित घटना के मूल में यही बवण्डर है। सच तो यह है कि विश्वम्भर में स्थान स्थान पर वात्याचक्र हैं। जल में उसे भवँर कहते हैं, स्थल पर उसे बवण्डर कहते हैं, राज्य में विप्लव, समाज में उच्छृङ्खलता और धर्म में पाप कहते

हैं। चाहे इन्हें नियमों का अपवाद कहो चाहे बवण्डर— यही न ?"

इस भाषा में तत्व-विवेचन भी है और रसात्मकता भी। कुछ भी हो इनके जीवन का जो स्थायी रस है उसे अभिव्यक्त करने में यह शैली अनुपम रूप से सफल हुई है। अपनी लेखन-प्रणाली से जयशंकर प्रसाद इस युग के शैली-प्रवर्तक लेखक समझे जाते हैं। शैली के दुर्बोध और जटिल होने के कारण उनको लोग छायावादी कवि के नाम से पुकारते हैं,यद्यपि यह नितान्त भ्रामक है। आप की 'आँधी' और 'अकाशदीप' अच्छे कहानी संग्रह हैं और 'कंकाल' एक उत्कृष्ट मौलिक उपन्यास है। आपने बहुत से छोटे छोटे नाटकों के अतिरिक्त 'चन्द्रगुप्त', 'स्कंधगुप्त', 'अजातशत्रु' 'ध्रुवस्वामिनी', आदि कई नाटक लिखे हैं। यद्यपि ये नाटक पूर्णरूप में रङ्गमञ्च के योग्य नहीं, किन्तु साहित्य के प्रभावपूर्ण ग्रंथ हैं।

'कौशिक' जी इस युग के प्रतिष्ठित गल्पकार हैं। मुझे उनके सम्पर्क का अवकाश प्राप्त है। आपने उपन्यास रचना भी की है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

आपकी विख्याति का कारण वास्तव में आपकी छोटी छोटी कहानियाँ तथा व्यंग्यात्मक चिट्ठियाँ ही हैं। आपकी गणना इस युग के पुराने कहानी लेखकों में की जाती है। आपकी कहानियों का क्षेत्र भी सर्व-देशीय है। समाज-सुधार पर लिखते समय आप उपदेशक न होकर एक भुक्तभोगी का मर्मोद्घाटन करते हैं। ग्राम्य-जीवन का यथार्थ स्वरूप प्रकट करते हुए आप किसानों का हर्ष, शोक, उनकी रुचि, आकांक्षाएं उनकी चेष्टाएँ और उनकी निर्बलता पात्रानुरूप भाषा में (देहाती बोलचाल, तकिया-कलाम और कथन, विधि) स्थान स्थान पर गुम्फित कर सजीवता और मार्मिकता उत्पन्न कर देते हैं। इसके अतिरिक्त आप गार्हस्थ्य जीवन का चित्र खीचने में भी असाधारण कुशल हैं। आपका राग-द्वेष का मनोवैज्ञानिक चित्रण एक अस्पष्ट प्रलाप न होकर, सरल, सुस्पष्ट भावानुरूप भाषा में हृदयस्पर्शी होता है।

कहा जाता है कि आपकी कहानियों की सफलता का आधार पात्रों के कथोपकथन हैं। आपकी कहानी का पात्र यदि मुसलमान है तो उसके सम्भाषण में हमें मुस्लिम संस्कृति की शिष्टता मिलेगी, यदि वह एक वेश्या है तो उसको कलुषित-वृत्ति का यथार्थ निदर्शन मिलेगा; और यदि पात्र एक मद्यप है तो उसके विकृत-मस्तिष्क की सुस्पष्ट रूपरेखा और विक्षेप-जनित स्वभावतः असंगत वाक्यावली के दर्शन होते हैं। कौशिक जी बहुज्ञ हैं और वे मनुष्य की अन्तःवृत्तियों का अध्ययन और अनुभव रखते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आपके कथोपकथन अत्यन्त उत्कृष्ट, नितान्त मौलिक, स्वाभाविक और सजीव होते हैं। हम साहस पूर्वक कह सकते हैं कि कथोपकथन लिखने में कौशिक जी अद्वितीय हैं।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

आप अंग्रेजी तथा बंगला साहित्य के अच्छे जानकार और फ़ारसी के विद्वान हैं। प्रेमचन्द जी की भाँति आपने भी आरम्भ में उर्दू में ही अपनी प्रतिभा चमत्कृत की थी। उर्दू में लिखी गयी आपक अनेक कहानियाँ आज हिन्दी में रूपान्तरित हो चुकी हैं। आपका कहना है कि हिन्दी लेखक को भाषा में प्रवाह और प्रभावात्मक मार्दव उत्पन्न करने के लिए उर्दू की रवानी से अभिज्ञ और अभ्यस्त होना अपेक्षित है। आपने आलोचनात्मक निबन्ध और वर्णन विषयक पुस्तकें भी लिखी हैं।

"दुबे जी की चिट्ठी" के नाम से आपने व्यंग-मिश्रित हास्यरस के बहुत से लेख लिखे हैं। ये लेख पुस्तकाकार दो भागों में

प्रकाशित हो चुके हैं। नीचे उस संग्रह की एक चिट्ठी का कुछ अंश दिया जाता है :—

"अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की।

क्या कहूँ भाई, हिन्दुओं का पाखंड देख कर चित्त को बड़ा क्लेश होता है। हिन्दुओं ने धर्म तथा आस्तिकता को अपने मनोरंजन का साधन बना रक्खा है। उनकी समझ में ईश्वर को मानने तथा उसकी उपासना करने में दो लाभ हैं। एक तो ईश्वर की खोपड़ी पर एहसान का गट्ठर लादना और दूसरे अपना मनोरंजन करना। आम के आम गुठलियों के दाम! धर्म का इतना सदुपयोग और कौन कर सकता है? देवताओं की अधिकता कुछ हिन्दुओं के लिए उतनी ही मनोरंजक है, जितनी किसी बालक के लिए खिलौनों की अधिकता होती है। जैसे कोई बालक दिन भर में अनेक तथा नये-नये खिलौनों से खेलना पसन्द करता है, वैसे ही कुछ भाई भी दिन भर में अनेक देवताओं की आकांक्षा रखते हैं। सवेरे मुकुटेश्वर के मन्दिर में विराजमान हैं तो शाम को महेश्वरी देवी के मन्दिर में डटे हैं। दो घंटे पश्चात् देखिये तो अन्य किसी ईश्वरी अथवा देवता के दरबार में उपस्थित हैं।

क्या ऐसा भक्तिवश करते हैं? अजी नारायण का नाम लीजिये? भक्ति किस चिड़िया का नाम है, इसका भी पता हमको नहीं है। करते हैं केवल 'मज़े' के लिए। मज़ा ढूंढ़ते फिरते हैं—मज़े के दीवाने हैं। मैंने अनेक भक्तों को यह कहते सुना—"आज अमुकीश्वरी के दरबार में गये थे, कुछ मज़ा नहीं आया। आज अमुकेश्वर के दरबार में कुछ आनन्द नहीं आया।" इन कमबख्तों को कोई पूछे मज़ा नहीं आया तो इसके लिए ईश्वर तथा ईश्वरी क्या करें! उन्होंने आपको मज़ा पहुँचाने का ठेका ले रक्खा है क्या? और आप उनकी सेवा करने और दर्शन करने जाते हैं या

मजे लूटने ? जैसे लोग कबूतरबाज़ी, पतंगबाज़ी तथा अनेक प्रकार की अन्य बाज़ियों में मज़ा ढूंढ़ा करते हैं ऐसे ही कुछ भक्त लोग 'देवताबाज़ी' करते हैं और उसमें मज़ा ढूंढ़ते रहते हैं । जिस देवता में उन्हें कुछ मज़ा अथवा आनन्द मिलता है, वह देवता सिद्ध देवता समझा जाता है । जिसमें आनन्द नहीं आता, वह देवता नापास और देवताओं की बिरादरी में से ख़ारिज ! ऐसे देवता के मन्दिर में शाम को कोई चिराग़ भी नहीं जलाता । जो देवता 'मज़ा' देता रहता है, उसकी शान देखिये—क्या ठाट रहते हैं !

आप पूछेंगे कि "देवताबाज़ी" में क्या मज़ा आता है ? मैं बहुधा यह सोचा करता हूँ कि लोगों को बटेर-बाज़ी, कबूतरबाज़ी, पतंगबाज़ी में क्या मज़ा आता है ? परन्तु उन्हें आता है ! मुझे तो वह सोलहो आने हिमाकतबाज़ी दिखायी पड़ती कुछ तो मज़ा आता ही होगा, तभी तो वे उसमें समय तथा धन नष्ट करते हैं । उस मज़े को हम और आप नहीं समझ सकते । इसी प्रकार "देवताबाज़ी" के मज़े का अनुमान हम आप नहीं लगा सकते । हाँ, देवताबाज़ों को किस बात में आनन्द मिलता है, इसको मैंने समझने का प्रयत्न किया है ।

श्रावण तथा भादों का महीना 'देवताबाज़ी' के लिए बड़े आनन्द का महीना है । श्रावण के प्रत्येक सोमवार को ये लोग व्रत रखते हैं और उस दिन किसी विशेष ईश्वर के दरबार में जमा होते हैं । अतएव इन लोगों का आनन्द इतवार से ही आरम्भ हो जाता है । मेरे जान पहचान के एक कायस्थ सज्जन, जो मांस के बड़े ही प्रेमी हैं, कहा करते हैं कि एक दिन मांस खाने का आनन्द तीन दिन तक रहता है । जिस दिन उनके यहाँ मांस पकता है, उसके एक दिन पहले इस आशा में आनन्द आता है कि कल मांस खाने को मिलेगा । जिस दिन खाने को मिलता है उस दिन का तो कहना ही क्या है । खाने के दूसरे दिन इस बात को याद करके मज़ा आता है कि कल मांस खाया था । यही

दशा इन अधिकांश व्रत रखने वालों की होती है। इतवार ही से स्कीमें बनने लगती हैं कि कल खाने को क्या क्या बनना चाहिए। व्रत का उद्देश्य तथा उसके कर्तव्य गये चूल्हे में, सबसे पहले खाने की फिक्र होती है। रखते हैं व्रत और खाने की चिन्ता एक दिन पहले से पड़ जाती है। इस विरोधाभास का भी कुछ ठिकाना है?

इसके पश्चात् यह तय होता है कि कल किस ईश्वर के दरबार में चलना चाहिए। इसके लिए अधिक सोच-विचार की आवश्यकता नहीं पड़ती। हमारे शहर में चार ईश्वर हैं। प्रत्येक सोमवार को एक-एक ईश्वर के दरबार में मेला लगता है। अतएव अधिकांश वहीं जमा होते हैं। जो लोग धनी हैं, उनका सब सामान इतवार को शाम को ही ईश्वरजी के कम्पाउन्ड में पहुँच जाता है। सोमवार के दिन शाम को इस कम्पाउन्ड में जिधर देखिये सिल बट्टा खटक रहा है। खब गहरी छनती है। शिवजी की भक्ति में एक यही तो सुविधा है कि छानने को खूब मिलती है। सोमवार के दिन दोनों समय छनती है। सवेरे से ही नशे जम जाते हैं। भाँग-बाँग पीकर वहीं शौच से निवृत हुए। इसके पश्चात् स्नान किया तत्पश्चात् ईश्वर जी की खोपड़ी पर एहसान का टोकरा लादा गया। अर्थात् थोड़ी देर पूजन किया। इसके पश्चात् आनन्द के साथ तर माल पर हाथ साफ किया।

भवदीय

"विजयानन्द दुबे"

इस पत्रमें कैसा अनुपम व्यङ्ग है! कैसी अनूठी चुटकी है! भाषा में कैसी सुबोधता है! फिर भी साहित्यिकता का वहिष्कार नहीं है।

हिन्दी में आजकल हास्यरस के निबन्ध और कहानी लेखकों की संख्या उँगलियों पर है। गोंडा के श्री जी. पी. श्रीवास्तव ने यद्यपि हिन्दी में हास्य-रस के निबन्धों और प्रहसनों का एक ढेर लगा दिया है, किन्तु उनमें प्रत्युत्पन्न मति होते हुए भी उनका हास्य अधिकांश में भौंडा और अशिष्ट होता है। उनके पाठकों का केवल

एक वर्ग है—धनी मनचले जवान, और उनकी भी संख्या न्यून है। इनकी "लम्बी दाढ़ी" यद्यपि इस बात की परिचायक है कि लेखक में हास्य-सृजन की शक्ति और प्रतिभा है; किन्तु खेद है कि इनकी गति अधोगामिनी ही रही है। इस दिशा के दूसरे लेखक मिर्जा अजीम-बेग चग़ताई, यद्यपि हास्यपूर्ण अच्छी कहानियाँ लिखते हैं, किन्तु उनकी लेखन-शैली में उर्दू का प्राधान्य रहता है। हरीशङ्कर शर्मा, नवजादिक लाल श्रीवास्तव, शिवपूजन सहाय, जगन्नाथ प्रसाद और अन्नपूर्णानन्द हास्य-रस के अच्छे लेखक हैं। साहित्य के इस विभाग को इन्होंने विशेष रूप से अपनाया है। इसके विपरीत कौशिक जी की लेखनी, अनुशासित गति से, फूलों के साथ व्यङ्ग के भी ढेले फेंकती हुई, शालीनता की मेंड़ के भीतर रहकर, निर्दिष्ट पथ पर बढ़ती है। इनकी हास्य की शैली में हमें प्रतापनारायण मिश्र की ज़िन्दादिली की झलक मिलती है। इन्होंने उपन्यास और कहानियों के अतिरिक्त कई रंग-मंच के योग्य सुन्दर नाटक और कुछ प्रहसन भी लिखे हैं। विषय दृष्टि से कौशिक जी चाहे पिछड़े हुए कहानी लेखक हो जायँ, परन्तु भाषा की दृष्टि से आप हमेशा हरे हैं।

इस युग के युग-प्रवर्तक लेखकों में 'भारतीय आत्मा' का स्थान बहुत ऊँचा है। हिन्दी साहित्य ने अभी उनके कवि के रूप में ही

माखन लाल चतुर्वेदी

दर्शन किये हैं। परन्तु उन्होंने गद्य भी बहुत लिखा है। वह बहुत प्रकाशित और बहुत अप्रकाशित है। उनका अप्रकाशित गद्य प्रकाशित से कहीं अधिक सुसम्पन्न और कीर्तिमान है। चतुर्वेदी जी का गद्य क्या है, वह बिना छन्द का पद्य है। हिन्दी-उर्दू शब्दों का उसमें धड़ल्ले से प्रयोग किया गया है। उनकी अप्रकाशित गद्य-माधुरी का रसास्वादन बहुत से साहित्यिकों ने किया होगा। उनका अप्रकाशित "साहित्य-देवता" विषय और अभिव्यंजन दोनों ही दृष्टि से हिन्दी की अनुपम निधि है। 'साहित्य-देवता' का एक भाग नीचे उद्धृत किया जाता है। इसके

संक्षेप कर देने से तारतम्य बिगड़ जायगा।

'मैं तुम्हारी एक तसवीर खींचना चाहता हूँ। 'परन्तु भूल मत जाना कि मेरी तसवीर खींचते खींचते तुम्हारी भी एक तसवीर खिंचती चली आ रही है'।

'अरे, मैं तो स्वयं ही अपने भावी जीवन की एक तसवीर अपने अटैची-केस में रक्खे हुए हैं'। तुम्हारी तसबीर बना चुकने के बाद मैं उसे प्रदर्शिनी में रखने वाला हूँ।

'किन्तु, मेरे मास्टर, मैं यह पहले देख लेना चाहता हूँ कि मेरे भावी जीवन को किस तरह चित्रित कर, तुमने अपनी जेब में रख छोड़ा है'।

माखनलाल चतुर्वेदी

'प्रदर्शिनी में रक्खो तुम अपनी बनायी हुई, और मैं अपनी बनायी हुई रख दूँ—केवल तुम्हारी तसवीर'।

'ना सेनानी! मैं किसी भी आईने पर बिकने नहीं आया। मैं कैसा हूँ, यह पतित होते समय खूब देख लेता हूँ। चढ़ते समय तो तुम्हीं, केवल तुम्हीं, देख पड़ते हो।

क्या देखना है?

तुम्हें! और तुम कैसे हो यह कलम के घाट उतरने के समय! यह हरगिज नहीं भूल जाना है कि तुम किसके हो!

आज चित्र खींचने की बेचैनी क्यों है?

कल तक मैं तुम्हारा मोल-तोल कूता करता था। आज अपनी इस वेदना को लिखने के आनन्द का भार मुझसे नहीं सँभलता।

सचमुच, पत्थर की क़ीमत बहुत थोड़ी होती है, वह बोझीली ही अधिक होती है।

बिना बोझ के छोटे पत्थर भी होते हैं, जिनमें से एक एक की क़ीमत पचासों हाथियों से नहीं कूती जाती। परन्तु क्या ?

परन्तु क्या ?

मेरे प्रियतम, तुम वह मूल्य नहीं हो, जिसकी, अभागे गाहक की अड़चनों को देखकर, अधिक से अधिक माँग की जाती है।

हाँ, तो तुम्हारा, चित्र खींचना चाहता हूँ। मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो, क़लम की जीभ को बोल लेने दो। किन्तु, हृदय और मसिपात्र दोनों ही काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्ध-विराम, अल्हड़ता का अभिराम, धवलता का गर्व गिराने वाला केवल श्याम मात्र होगा। परन्तु यह काली बूँदें, अमृतविन्दुओं से भी अधिक मीठी, अधिक आकर्षक, और मेरे लिए अधिक मूल्यवान हैं। मैं अपने आराध्य का चित्र जो बना रहा हूँ।

× × × ×

कौन सा आकार दूँ ? तुम मानव हृदय के मुग्ध संस्कार जो हो ! चित्र खींचने की सुध कहाँ से लाऊँ ? तुम अनन्त 'जाग्रत' आत्माओं, के ऊँचे, पर गहरे 'स्वप्न' जो हो ! मेरी, काली क़लम का बल, समेटे नहीं सिमटता ! तुम, कल्पनाओं के मन्दिर में, बिजली की व्यापक चकाचौंध जो हो ! मानव-सुख के फूलों के और लड़ाके सिपाही के रक्त-बिन्दुओं के, संग्रह, तुम्हारी तसबीर खींचूँ मैं ? तुम तो, बाणी के सरोवर में अन्तरात्मा के निवासी की जगमगाहट हो। लहरों से परे, पर लहरों में खेलते हुए। रजत के बोझ और तपन से ख़ाली, पर पंछियों, वृक्ष-राजियों और लताओं तक को अपने रुपहलेपन में नहलाये हुए।

वेदनाओं के विकास के संग्रहालय ! तुम्हें किस नाम से पुकारूँ ? मानव-जीवन की अब तक पनपी हुई महत्ता के मन्दिर, ध्वनि की

सीढ़ियों से उतरता हुआ, ध्येय का माखन-चोर, क्या तुम्हारी ही गोद के कोने में, 'राधे' कहकर नहीं दौड़ा आ रहा है ? अहा ! तब तो तुम ज़मीन को आसमान से मिलाने वाले जीने हो, गोपाल के चरण-चिन्हों को साध साध कर चढ़ने के साधन। ध्वनि की सीढ़ियाँ जिस क्षण लचक रही हों, कल्पना की मुलायम रेशम-डोर जिस समय गोविन्द के पादारविन्द के पास पहुँच कर झूलने की मनुहार कर रही हो, उस समय यदि वह भूल पड़ता होगा—आह ! तुम कितने महान हो ! इसीलिए बेचारा 'लाँगफैलो तुम्हारे चरण-चिन्हों के मार्ग की कुंजी, तुम्हारे ही द्वार पर लटका कर चला गया।

चिड़ियों की चहक का संगीत, मैं, और मेरी अमृत-निस्पन्दिनी गाय, ब्रज-लता, दोनों सुनते हैं। "सखि चलो सजन के देश, जोगन बन के धूनी डालेंगे"—मैं और मेरा घोड़ा दोनों जहाँ थे, वहीं मेरे मित्र 'शम्भु' जी ने अपनी तान छेड़ी थी। परन्तु, वह तो तुम्हीं थे, जिसने द्विपाद और चतुष्पाद का, विश्व को निगूढ़ तत्व सिखाया। अरे, पर मैं तो भूल ही गया, मैं तो तुम्हारी तसवीर खींचने वाला था न ?

× × × ×

हाँ, तो अब मैं तुम्हारी तसवीर खींचना चाहता हूं। पशुओं को कच्चा खाने वाली ज़बान, और लज्जा ढकने के लिए लपेटी जाने वाली वृक्षों की छालें—वे, इतिहास से भी परे खड़े हुए हैं; और यह देखो, श्रेणी-बद्ध अनाज के अंकुर और शाहज़ादे कपास के वृक्ष, बाक़ायदा, अपने ऐश्वर्य को मस्तक पर रखकर, भू-पाल बनने के लिए, वायु के साथ होड़ बद रहे हैं। इन दोनों ज़मानों के बीच की ज़ंजीर—तुम्हीं तो हो। विचारों के उत्थान और पतन तथा सीधे और टेढ़ेपन का मार्ग-दर्शक बना, तुम्हीं न, कपास के तंतुओं से भी झीने तार खींच कर, आचार ही की तरह विचार के जगत में, पांचाली की लाज बचाते आये हो !

कितने दुःशासन आये, और चले गये। तुम्हारी बीन से रात को,

तड़पा देने वाली सोरठ गाता हूँ और सवेरे, विश्व-संहारकों से जूझने जाते समय, उसी बीन से, युद्ध के नक्कारे पर, डंके की चोट लगाता हूँ। नगाधिराजों के मस्तक पर से उतरने वाली निम्नगाओं की मस्ती भरी दौड़ में, उनसे निकलने वाली लहरों की क़ुरबानी से हरियाली होने वाली भूमि में लजीली पृथ्वी से लिपटे तरल नीलांबर वाले महासागरों में और उनकी लहरों को चीर कर ग़रीबों के रक्तसे कीचड़ सान, साम्राज्यों का निर्माण करने के लिए दौड़ने वाले जहाज़ों के झंडों में, तुम्हीं—केवल तुम्हीं लिखे दीखते हो। इङ्गलैण्ड का प्रधान मन्त्री, इटाली का डिक्टेटर, अफ़ग़ानिस्तान का पदच्युत अमीर, चीन का ऊंघ कर जागता हुआ मंडारिन, और रूस का सिंहासन उलटने और क्रांति से शान्ति का पुण्याहवाचन करने वाला ग़रीब—यह कौन है? यह तो युग की छाती पर तुम्हारे ही मधुर नाम के कठोर अक्षर हैं।

यदि तुम स्वर्ग न उतारते, तो मन्दिरों में किसकी आरती उतरती? वहां चमगादड़ टँगे रहते, उलूक बोलते। मस्तिष्क के मन्दिर भी जहां तुमसे ख़ाली हैं, यही तो हो रहा है। क़ुतुब-मीनारों और पिरामिडों के गुम्बज़, तुम्हारे ही आदेश से, आसमान से बातें कर रहे हैं। आँखों की पुतलियों में यदि तुम कोई तसवीर न खींच देते, तो वे बिना दाँतों के ही चीथ डालतीं, बिना जीभ के ही रक्त चूस लेतीं। वैद्य कहते हैं, धमनियों के रक्त की दौड़ का आधार हृदय है; क्या हृदय तुम्हारे सिवा किसी और का नाम है? व्यास का कृष्ण और वाल्मीकि का राम, किसके पङ्खों पर चढ़ कर, हज़ारों वर्षों की छाती छेदते हुए आज लोगों के हृदयों में विराज रहे हैं? वे चाहे काग़ज़ के बने हों, चाहे भोजपत्रों के, वे पङ्ख तो तुम्हारे ही थे!

रूठो नहीं, स्याही के शृङ्गार! मेरी इस स्मृति पर तो पत्थर ही पड़ गये कि मैं तुम्हारा चित्र खींच रहा था।

परन्तु तुम सीधे कहाँ बैठते हो? तुम्हारा चित्र? बड़ी टेढ़ी

स्वार हैं। सिपहसालार, तुम, देवत्व को मानवत्व की चुनौती हो। हृदय से छन कर, धमनियों में दौड़ने वाले रक्त की, दौड़ हो और हो उन्माद के अतिरेक के रक्त-तर्पण भी। आह कौन नहीं जानता कि तुम कितनों ही की वंशी की धुन हो, धुन वह जो गो-कुल से उठकर विश्व पर अपनी मोहनी का सेतु बनाये हुए है। काल की पीठ पर बना हुआ वह पुल, मिटाये मिटता नहीं, भुलाये भूलता नहीं। ऋषियों का राग, पैग़म्बरों का पैग़ाम, अवतारों की आन, युगों को चीरती, किस लालटेन के सहारे, हमारे पास तक आ पहुँची? वह तो तुम हो परम प्रकाश—स्वयं प्रकाश। और आज भी कहाँ ठहर रहे हो? सूरज और चाँद को अपने रथ के पहिये बना, सूझ के घोड़ों पर बैठे, बढ़े ही तो चले जा रहे हो प्यारे! ऐसे समय हमारे सम्पूर्ण युग का मूल्य तो, मेल ट्रेन में पड़ने वाले छोटे से स्टेशन का सा भी नहीं होता। पर इस समय तो, तुम मेरे पास बैठे हो। तुम्हारी एक मुट्ठी में भूतकाल का देवत्व छटपटा रहा है,—अपने समस्त समर्थकों को लेकर, दूसरी मुट्ठी में, विश्व का विकसित तरुण पुरुषार्थ विराजमान है। धूलि के नन्दन में परिवर्तित स्वरूप, कुञ्जविहारी, आज तो कल्पना की फुलवारियाँ भी, विश्व की स्मृतियों में, तुम्हारी तर्जनी के इशारों पर लहलहा रहीं हैं।

तुम नाथ नहीं हो, इसीलिए कि मैं अनाथ नहीं हूँ। किन्तु हे अनन्त पुरुष, यदि तुम विश्व की कालिमा का बोझ सँभालते मेरे घर न आते, तो ऊपर आकाश भी होता नीचे ज़मीन भी; नदियाँ भी बहतीं, सरोवर भी लहराते; परन्तु मैं और चिड़ियाँ, दोनों, छोटे-छोटे जीव-जन्तु और स्वाभाविक अन्न-कण बीन कर अपना पेट भरते होते। मैं भर वैशाख में भी वृक्षों पर शाखामृग बना होता। चीते सा गुर्राता, मोर सा कूकता और कोयल सा गा भी देता। परन्तु मेरा और विश्व के हरियालेपन का, उतना ही सम्बन्ध होता, जितना, नर्मदा के तट पर, हरसिंगार की वृक्ष-राजि में लगे हुए,

टेलिग्राफ़ के खम्भे का नर्मदा से कोई सम्बन्ध हो। उस दिन, भगवान 'समय,' न जाने किसका, न जाने कब कान उमेठ कर चलते बनते? मुझे कौन जानता? विन्ध्य की जामुनों और अरावली की खिरनियों के उत्थान और पतन का भी इतिहास किसी के पास लिखा है? इसीलिए तो मैं तुमसे कहता हूं—"ऐसे ही बैठे रहो, ऐसे ही मुसकाओ"!

क्यों?

इसलिए, कि अन्तर-तट की तरल तूलिकाएँ समेट कर अराजक! मैं तुम्हारा चित्र खींचना चाहता हूँ।

+ + +

क्या तुम अराजक नहीं हो? कितनी गद्दियाँ तुमने चकनाचूर नहीं कीं? कितने सिंहासन तुमने नहीं तोड़ डाले? कितने मुकुटों को गलाकर घोड़ों की सुनहली खोगीरें नहीं बना दी गयीं? सोते हुए अखण्ड नर-मुन्डों के जागरण, नाड़ीरोगी के ज्वर की माप बताने में चूक सकती हैं, किन्तु तुम, मुग्ध होकर भी, ज़माने को, गणित के अङ्कों जैसा नपा-तुला और दीपक जैसा स्पष्ट निर्माण करते चले आ रहे हो। आह, राज्य पर होने वाले आक्रमण को बरदाश्त किया जा सकता है, किन्तु मनोराज्य की लूट तो दूर, उस पर पड़ने वाली ठोकर, कितने प्रलय नहीं कर डालती?

सोने के सिंहासनों पर विराजमानों की हत्याओं से ज़माने के मनस्वियों के हाथ लाल हैं, किन्तु नक़शे पर दिये जाने वाले रंग की तरह उस शक्ति की सीमा निश्चित है। परन्तु मनोराज्य की मृगछाला पर बैठे हुए, बिना शस्त्र और बिना सेना के, बृहस्पति के अधिकार को चुनौती कौन दे सके? मनोराज्य पर छूटने वाला तीर प्रलय की प्रथम चेतावनी लेकर लौटता है। मनोराज्य के मस्तक पर फहराता हुआ विजय-ध्वज, जिस दिन धूल-धूसरित होने लगे, उस दिन मनुषत्व दूरबीन से भी ढूँढ़े कहाँ मिलेगा? उस दिन ज्वालामुखी फट

पड़ा होगा, वज्र टूट पड़ा होगा। प्यारे, शून्य के अङ्क, गति के संकेत और विश्व के पतन-पथ की तथा विस्मृति की गति की लाल झंडी, तुम्हीं तो हो! तुम्हारा रङ्ग उतरने पर, वह आत्म-तर्पण ही है जो फिर तुम पर लालिमा बरसा सके। जिस मन्दिर का झंडा लिपट जाय, वह डाँवाँडोल हो उठे, उसमें 'नर', 'नारायण' नहीं रहते। उस देश को पराये चरण अभी धोने हैं, अपने मांस से पराये चूल्हे अभी सौभाग्यशील बनाये रखने हैं, पराई उतरन अभी पहननी है। मैं, प्रियतम, तुम्हारी—"उतरन पहनी हुइ तसवीर नहीं खींचूंगा।"

\+ + +

उतरन !! बुरी तरह स्मरण हो आया! बुरे समय, बुरे दिनों। अपना कुछ न रखने वाला ही उतरन पहने। जो क्षितिज के परे अपनी अँगुली पहुँचा पावे, जो प्रत्यक्ष के उस ओर रखी हुई वस्तु को छू सके, वह उतरन क्यों पहने? फ्रेंच और जर्मन का आपस का लेन-देन, उतरन नहीं, वह तो भाई-चारे की भेंट है। एक भिखारिन मां मेरी भी है। उसने भी रत्न प्रसव किये हैं। पत्थरों से बोझीले; कंकड़ों से गिनती में अधिक; खाली अन्तःकरण में मृदङ्ग से अधिक आवाज करने वाले। मातृ मन्दिर में, उतरन पर एक दूसरे से होड़ ले रहा है। उतरन-संग्रह की बहादुरी का इतिहास, उनकी पीठ पर लदा हुआ है। गत वर्ष होने वाले विश्व-परिवर्तनों के छपे पुराने अख़बारों पर, आज हम, हवाई जहाज़ के नये आविष्कार की तरह बहस करते हैं। वीणा, वंशी और जल-तरङ्ग का सर्वनाश ही नहीं हो चुका; हारमोनियम और पियानो भी किस काम आयंगे? हमारा कोई गीत भी तो हो? कला से नहलाया हुआ, हृदय तोड़ कर निकाला हुआ। वीणा में तार नहीं, दिल में गुबार नहीं। और साध तो है कि

"मैं तुम्हारा चित्र बना डालूँ।"

न जाने हम तुम्हारा जन्मोत्सव मनाते हैं, या मरण-त्योहार ? बैल गाड़ी पर बैठे-बैठे हवाई जहाज़ देखा करते हैं। बिल्ली के रास्ता काट जाने पर हमारा अपशकुन होता है; किन्तु बेतार का तार स्विटज़रलेन्ड की खबर, आस्ट्रेलिया पहुँचा कर भी, हमारी श्रुतियों को नहीं छूता! तब, हमारी सरस्वती से तो उसका सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है ? एंजिन के रूप में धधकती हुई, ज्वालामुखी का एक व्यापार हमारी छाती पर हो रहा है। प्यारे, इस समय अधोगति की ज्वाल-मालाओं में से ऊँचा उठने के लिए आकर्षण चाहिए। कृषकों ने, इसी लालच से तो तुम्हारा नाम कृष्ण रक्खा होगा। ज़रा, तुम अपनी युग-सन्देश-वाहिनी बाँसुरी लेकर बैठ जाओ। रामायण में जहाँ बालकाण्ड है, वहाँ लङ्काकाण्ड भी तो है। तुम्हारी तान में भैरवी भी हो, कलिंगड़ा भी हो। ज़रा वंशी लेकर बैठ जाओ। मैं तुम्हारा चित्र मुरलीधर के रूप में खींचना चाहता हूँ।

\+ + + + +

"शिव संहार करते हैं"! कौन जाने ? किन्तु मेरे सखा, तुम ज़रूर महलों के संहारक हो। झोपड़ियों ही से तुम्हारा दिव्य गान उठता है। किन्तु यह तुम्हारी पर्ण-कुटी देखो। जाले चढ़ गये हैं, वातायन बन्द हो गये हैं। सूर्य की नित्य नवीन, प्राण-प्रेरक और प्रण-पूरक किरणों की यहाँ गुज़र कहाँ ? वे तो द्वार खटखटा कर लौट जाती हैं। द्वार पर चढ़ी हुई बेलें, पानी की पुकार करती हुई, बिना फलवती हुए ही, अस्तित्व खो रही हैं। पितृ-तर्पण करने वाले अल्हड़ों को लेकर, युग, इस कुटी का कूड़ा साफ़ करने ही में लग जाना चाहता है। कितने तप हुए कि इस कुटिया में सूर्य-दर्शन नहीं होते। मेरे देवता! तुम्हारे मन्दिर की जब यह अवस्था किये हुए हूँ, तब बिना प्रकाश, बिना हरियालेपन, बिना पुष्प और बिना विश्व की नवीनता को तुम्हारे द्वार पर खड़ा किये, तुम्हारा चित्र ही कहाँ उतार पाऊँगा ?

विस्तृत नीले आसमान का पत्रक पाकर भी, देवता ! तुम्हारी तसवीर खींचने में, शायद देवी चितेरे इसीलिए असफल हुए। उन्होंने चन्द्र की रजतिमा की दावात में, क़लम डुबो-डुबो कर चित्रण की कल्पना पर चढ़नेका प्रयत्न किया, और प्रतीक्षा की उद्विग्नता में, सारा आसमान धबीला कर चलते बने ! इस बार, मैं पुष्प लेकर नहीं, कलियाँ तोड़ कर, आने की तैयारी करूँगा ; और ए विश्व के प्रथम प्रभात के मन्दिर, उषा के तपोमय प्रकाश की चादर तुम्हें ओढ़ा कर तुम्हारे उस अन्तरतर का चित्र खींचने आऊँगा, जहाँ, तुम, अशेष सङ्कटों पर अपने हृदय के टुकड़े बलि करते हुए, शेष के साथ खिलवाड़ कर रहे होगे।

आज तो मैं उदास, पराजित, और भविष्य की वेदनाओं की गठरी सिर पर लादे, मेरे बाग़ में उन कलियों के आने की उम्मीद में ठहरता हूँ, जिनके कोमल अन्तस्थल को छेद कर, उस समय, जब तुम नगाधिराज का मुकुट पहने, दोनों स्कन्धों से आनेवाले सन्देशों पर मस्तक डुला रहे होगे ; गंगी और जमुनी का हार पहने, बंग के पास तरल चुनौती पहुँचा रहे होगे ; नर्मदा और ताप्ती की करधनी पहने, विन्ध्य को विश्व नापने का पैमाना बना रहे होगे, कृष्णा और कावेरी की कोर वाला नीलाम्बर पहने, विजय नगर का सन्देश, पुण्य प्रदेश से गुज़ार कर, सह्याद्रि और अरावली को सेनानी बना, मेवाड़ में ज्वाला जगाते हुए, देहली से पेशावर और भूटान चीर कर, अपनी चिरकल्याणमयी वाणी से, विश्व को न्योता पहुँचा रहे होगे ; और हवा और पानी की बेड़ियाँ तोड़ने का निश्चय कर, हिन्द-महासागर से अपने चरण धुलवा रहे होगे ;—ठीक उसी सन्निकट भविष्य में, हाँ सूजी से कलियों का अन्तःकरण छेद, मेरे प्रियतम, मैं तुम्हारा चित्र खींचने आऊँगा। तब तक, चित्र खींचने योग्य अरुणिमा भी तो तैयार रखनी होगी। बिना मस्तकों के गिने और रक्त को मापे ही मैं तुम्हारा चित्र खींचने आ गया।

देवता वह दिन आने दो; स्वर सध जाने दो।"

इस गद्य-खंड की भित्ति दार्शनिकता और धरातल भावुकता है। उर्दू, हिन्दी, अँग्रेजी इत्यादि शब्द जँचे हुए बैठे हैं। जो कुछ भी दुरूहता दिखायी देती है वह शैली के कारण नहीं, विषय-गाम्भीर्य्य के कारण है। चतुर्वेदी जी की लेखनी का एक दूसरा चमत्कार नीचे दिया जाता है।

मुरलीधर! "क्या तुम संगीत हो? तुम मेरे संगीत नहीं हो। अलापों की तरह तुम मेरी मर्जी पर लौटने कहाँ हो? माना कि तुम्हारी कृपा के बादल बेइख्तियार बरस पड़ते हैं। परन्तु उस समय तुम मेरी मलार नहीं बने होते।...... ..

'तब क्या तुम मेरी मृदङ्ग हो?'

हाँ, तुम मेरे प्रहार सह लेते हो; किन्तु मेरे बन्धनों में जकड़े जाने के लिए कब तैयार होते हो? मीठे बोलते हो; परन्तु मुँह पर आटा लगाने की रिशवत उस मधुराई के बदले तुम्हें कब देनी होती है? और 'सब कुछ' मेरे, मैं तुम्हारी वाणी पर यह इलजाम कैसे रख सकता हूँ कि तुम बाहर बोल रहे हो; किन्तु अन्तःकरण रहित हो? क्या तुम्हारी वाणी पर थोथेपन का आरोप कर सकता हूँ?

'आह! तब तुम वीणा हो; नारद के नाद-ब्रह्म से विश्व-झंकृत कर देने वाली।'

परन्तु वीणा तो मेरी गोद में रहती है। तुम कहाँ यह शर्त स्वीकार करते हो? माना, झनकारते ही वीणा स्वर देती है, मनुहारते ही तुम दौड़ आते हो; किन्तु मेरे स्वर पर सदा ही तो तुम्हारे तार नहीं मिलते। स्वर-से-स्वर न मिलने पर, स्वर-लहरी से विश्व भर देने वाली वीणा को गोद में लेकर और हृदय से लगाकर भी, मुझे उसके कान ऐंठने पड़ते हैं। पर, हाय! तुम तो मेरे कानों को वीणा बनाने के लिए घूमते हो?'

—'तव मधुर मुरली के सिवा तुम और क्या हो ?'

पर अपने ओंठ पर तुम्हारे मुँह को रखकर अपनी वेदनाओं और उल्लासों की गूँज कहाँ मचा सकता हूं ! तुममें छिद्र कहाँ है ? और उन पर मैं अपनी उँगलियाँ कहाँ रख सकता हूँ ?

आह जाना, तुम न संगीत हो, न मृदङ्ग हो, न वीणा हो, न मुरली हो.

'तुम तो मुरलीधर हो ।'

इस शुद्ध साहित्यिक स्वरूप के अतिरिक्त चतुर्वेदी जी का एक अखबारी स्वरूप भी है । सरकार की आलोचना करते समय, शासन की समीक्षा करते समय, राष्ट्र के सेवकों की व्याख्या करते समय, आप बहुत ही मृदुता के पैने व्यंग-खंड संकेत के हाथों फेंकते हैं । आपकी एक पंक्ति में, एक शब्द में भी साहित्यिकता का अभाव नहीं रहता । साधारण प्रकार से आपकी भाषा चोट करती हुई चलती है । उसकी मस्ती में सहज परिलक्षण नहीं है । चतुर्वेदी जी के व्यंग कई तह में लपेटे होते हैं और फिर भी उनमें सीधा सादापन होता है । राष्ट्रीय भावना उनका चिरन्तन स्वरूप है ; परन्तु साहित्य के सर्वतोन्मुखी स्वरूप को वे ख़ूब पहचानते हैं । उनकी शैली पूर्ण रूप से संकेतात्मक है । परन्तु उनकी अभिव्यञ्जना का स्वरूप चाहे कितनी ही कोठरियों के भीतर क्यों न बन्द रहे, उसका आकार और उसकी छाया प्रत्येक साहित्य-रसिक की परख में आ जाती है । इस दृष्टि से वे दुरूह नहीं हैं ।

अन्योक्ति-विधान का आश्रय लेना आजकल के युग की एक चाल है । गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में लोग इसका प्रयोग करते हैं । परन्तु जो कवि अथवा लेखक अन्योक्ति के प्रयोग में इतने लिप्त हो जाते हैं कि पग पग पर अन्योक्तियों में ही बोलते हैं, वे संकेतात्मक न होकर पहेली बुझाने लगते हैं । उनकी उक्तियों में व्यतिक्रम आ जाता है, उन्हें विफल प्रयास समझना चाहिए । आजकल के प्रसिद्ध

कवि सुमित्रा नन्दन पन्त में भी कहीं कहीं पर यह दोष बेतरह प्रविष्ट हो गया है जिससे उनकी कविता बहुत कुछ नष्ट समझनी चाहिए। परन्तु इस दोष से माखनलाल की कविता और गद्य दोनों ही मुक्त हैं। आप संकेतात्मक होकर भी स्पष्ट हैं। कहीं छोटे, कहीं बड़े, कहीं सधारण और कहीं प्रश्नवाचक उनके वाक्य बड़े मीठे और बड़े चुटीले होते हैं। ऊंचे से ऊंचा दर्शन और गहरे से गहरा समीक्षा-तत्व, वे इसी काव्यात्मक प्रणाली और संकेतात्मक भाषा में कहते चले जाते हैं।

उनकी शैली में भारी तन्मयता है। उसका प्रज्ञात्मक गुण रागात्मक पिटारी के भीतर बन्द रहता है। चतुर्वेदी जी उतना ही अच्छा बोलते हैं जितना अच्छा लिखते हैं। साधारण बोलचाल में तथा मंचों के बड़े बड़े भाषणों में वही आनन्द आता है जो उनके साहित्य के अध्ययन में। उनके लिखने और बोलने की भाषा एक है। कुछ लोग सरल लिखते और साहित्यिक बोलते हैं। कुछ लोग सरल बोलते और साहित्यिक लिखते हैं। चतुर्वेदी जी साहित्य लिखते और साहित्य बोलते हैं। उनकी लेखनी और उनके भाषण में पूर्ण सौहार्द्र है। यह गुण अध्यापक पूर्णसिंह में कुछ कुछ दिखायी देता है और किसी में नहीं।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

उग्रजी की हर बात में आपका एक निजी व्यक्तित्व प्रदर्शित है। आप की भाषा में एक अपूर्व ओज है, भावना का तरल प्रभाव है और विचारों में युगान्तरकारी उग्रता है। आप अपनी ज़िन्दा-दिली से साहित्यिक क्षेत्र में एक योद्धा की भाँति उतरे और थोड़े ही संघर्ष के बाद अब मेड़ में जाकर बैठ गये हैं। आपके जीवन की प्रत्येक दिशा में कवि-सुलभ मस्ती का ठाठ रहता है। यही कारण है कि उग्र जी इस ज़माने के जवान लेखकों में सब से अधिक उग्र और क़लम के सच्चे हैं। जो कुछ मस्तिष्क सोचता और हृदय कहता है बिना झिझक

और लगाव-लिपट के आपकी क़लम पुकारती है। आपने वर्तमान हिन्दू समाज की प्रचलित रूढ़ियों और कुसंस्कारों को तथा सभ्य और शिष्ट आचार-व्यवहारों के पटान्तर में नृशंसतापूर्वक मर्दित और अपमानित होने वाली नैतिकता को, ख़ूब समझा है, बहुत निकट से देखा है। आपकी लेखनी चिल्ला चिल्ला कर कहती है कि लेखक की आत्मा तिलमिलायी हुई है। नीचे 'रुपया' नामक उनके प्रबन्ध का एक अंश दिया जाता है :—

"मैं लड़कों के लड़कपन का खिलौना हूँ, मिठाई हूँ। मैं जवानों की जवानी की जान हूँ, मस्ती हूँ। मैं बूढ़ों की बुढ़ौती की लकड़ी हूं, सहारा हूँ, मैं रुपया हूँ।

मनुष्य मेरा गुलाम है। मैं उसे हज़ार नाच नचा सकता हूं, नचा चुका हूं, नचा रहा हूं। दुनियाँ मुझसे दबती है। मैं उसे उलट सकता हूं, उलट चुका हूं, उलट रहा हूं। प्रकृति मेरी वशवर्त्तिनी है। मैं उसे बनाता हूँ, बिगाड़ता हूँ, तोड़ता हूँ, फोड़ता हूँ। मैं रुपया हूँ।

विशाल विश्व में यदि कोई ईश्वर हो, तो मैं हूँ; धर्म हो, तो मैं हूँ; प्रेम हो तो मैं हूँ। मैं सत्य हूं, मैं शिव हूँ, मैं सुन्दर हूं। मैं सत हूं, मैं चित हूं, मैं आनन्द हूं। परलोक मैं हूं, लोक मैं हूं, हर्ष मैं हूँ, शोक मैं हूँ, क्षमता मैं हूं। ममता मैं हूँ! मैं रुपया हूँ।

मेरी झनझनाहट में जो अलौकिक मधुरिमा है, वह वीणा-पाणि की वीणा में कहां? लक्ष्मी-पति के पञ्चजन्य में कहां? कोकिल कल काकिली में कहां? कामिनी के कोकिल-कंठ में कहां? मुरलीधर की मुरली में कहां? डमरूवाले के डमरू में कहां? मृदङ्ग मुरचङ्ग में कहां? सितार जल-तरङ्ग में कहां? यहां कहां? वहां कहां? मैं सप्त स्वरों के ऊपर अष्टम स्वर हूँ, परम मधुर हूँ। मैं रुपया हूँ।

गीता के गायको, चण्डी सप्तशती के पाठको, भागवत के भक्तों, सत्यनारायण की कथा के प्रेमियों, रामायण के अनुरागियो, महाभारत के मानने वालो! मेरा गीत गाओ, मेरा पाठ पढ़ो, मेरे भक्त बनो,

मेरी कथा सुनो, मुझसे अनुराग करो, मुझे मानो, मेरी शरण आओ। तारन-तरन मैं हूँ, मङ्गल-करण मैं हूं, पुण्याचरण मैं हूँ। मैं रुपया हूँ।"

कैसी सादी और सुथरी भाषा है। इसमें एक विशेष हलकापन है जो असर करने में कम नहीं। आपकी शैली इस बात का प्रमाण है कि आपकी लेखनी की उग्रता आपके हृदय के चीत्कार का ही परिवर्त्तित स्वरूप है। आप आजकल की दुनिया का बड़ा विषाक्त अनुभव प्रकट करते हैं, समाज का नग्न चित्र प्रस्तुत करते हैं। उग्रजी एक तैश के साथ अपनी लौह-लेखनी की नोक से समाज की आँखें निकाल लेने की धमकी देते हुए, हमारा नेत्रोन्मीलन करते हैं। वास्तव में हमारी प्रचिलित विभीषिकाओं ने ही उन्हें इतना उग्र बना दिया है।

उग्रजी की उग्रता का कारण बहुत कुछ वे दिन हैं, जब देश में असहयोग आन्दोलन की प्रबल आँधी बह रही थी। आपकी रचनाओं में यदि कहीं पर आपको वक्तृत्व का चमत्कार मिलेगा तो कहीं भावोद्वेग का अत्यन्त प्रबल निदर्शन और अन्यत्र मनमोहक भावुकता का हिलोरें लेता हुआ रसार्णव। नित्य की बोलचाल की भाषा कितनी सुन्दर और प्रभावशालिनी हो सकती है, इसका पता आपके वाक्य-समूह देते हैं। देखिये :—

"है कोई ऐसा माई का लाल जो हमारे समाज को नीचे से ऊपर तक सजग दृष्टि से देखकर, कलेजे पर हाथ रख कर, सत्य के तेज से मस्तक तान कर, इस पुस्तक के अकिंचक लेखक से यह कहने का दावा करे कि "तुमने जो कुछ लिखा है, गलत लिखा है। समाज में ऐसी घृणित, रोमांचकारिणी, काजल-काली तसवीरें नहीं हैं।" अगर कोई हो तो सोत्साह सामने आवे, मेरे कान उमेठे, और छोटे मुंह पर थप्पड़ मारे, मेरे होश के होश ठिकाने करे। मैं उसके प्रहारों के चरणों के नीचे हृदय-पावड़े डालूँगा, मैं उसके अभिशापों को सिर माथे पर धारण करूँगा—संभाल दूँगा।"

आवेश में आप किस प्रकार कहते ही जाते हैं और वह भी किस रोचकता से, उपर्युक्त अवतरण प्रकट कर सकता है। इसके अतिरिक्त आपकी भाषा में उर्दू के चलते हुए शब्दों की अजीब रवानी, कहीं कहीं अंग्रेज़ी शब्दों और वाक्यांशों तक का प्रयोग, भावाभिव्यजन के अनुकूल और सर्वांश में स्वाभाविक, होता है। साधारणतया शिक्षित-जनों के परस्पर सम्भाषण में जिस प्रकार अंग्रेज़ी शब्द स्वभावतः बोले-सुने जाते हैं, उसी प्रकार पाठकों के प्रति आत्मीयता प्रदर्शित करते हुए, आप अँगरेज़ी और उर्दू को अपनी शैली में स्थान दिये हैं। भाव-व्यंजना में शब्दों का किञ्चित उलट-फेर कर देने से, किस प्रकार एक सौंदर्य-विशेष का उद्घाटन सा हो जाता है, यह इन नीचे लिखे हुए वाक्यों में देखिये :—

"नहीं तो, देखते अभागिनी नर्गिस के इस निराश सौंदर्य को।"

"गयी होती अदालत में बात। तो लद गये होते।"

"वह आया है उनको जीवन देने, जो कि प्राणों के रहते मृतक बने हैं।"

आपकी उपमाएं किस प्रकार स्वाभाविक और साधारण होते हुए भी अनूठी होती हैं, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है :—

"वह प्रभात की तरह सुन्दर और रुपये की तरह आकर्षक था।"

"मेरी अनेक दुर्बलताओं के साथ 'ज्ञानमण्डल प्रेस' की दुर्बलताएं ऐसी मिल गयी हैं, जैसे फ्रांस के साथ ब्रिटेन।"

"दूध-पानी की तरह मिले पड़े थे।"

इस प्रकार के उपमान एकत्रित करना भी आपकी एक विशेषता है। उग्र जी की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता की ओर भी यहाँ सङ्केत कर देना चाहिए। आप अपनी शैली में ओज लाने के लिए, एक बात को लेकर पहले एक छोटे से वाक्यांश में एक भावना रखते हैं और फिर उसके साथ पहले अंश के ही अनुरूप अनेक वाक्यांशों में मिलती-जुलती हुई अनेक भावनाएं गूंथते चले जाते हैं। इस प्रकार

वे वर्णन को और अपनी विचार-विधारा को, सहज ही एक विशद स्वरूप दे देते हैं। इस दिशा में हमें उनके केवल दो वाक्यों को उद्धृत कर देने से सन्तोष है।

"उनकी आँखों में मादकता थी, स्वर में करुणा भी और उनके मुख पर के भावों में था मदान्धपूर्ण प्रेम।"

"हे सुकुमार, हे प्यारे, हे कुलों के प्रकाश और घरों के दीपक। सावधान! नहीं तो मुख पर कालिख पुत जाने पर, इन आँखों का पानी मर जाने पर, सुन्दर ओंठों की लाली सूख जाने पर संसार में तुम्हें घृणा ही घृणा का सामना करना पड़ेगा।"

आपके कथनोपकथन भी कौशिक जी की ही भाँति सजीव और पात्रानुरूप भाषा में होते हैं। आपकी भाषा-शैली स्थान स्थान पर उर्दू होते हुए भी, विचार-विवेचन में हमारी सांस्कृतिक छाप लिये है।

आपने कहानी और उपन्यासों के अतिरिक्त नाटक रचना भी की है। आपकी कहानियाँ मनोवैज्ञानिक और मर्म-भेदिनी हैं, यह पढ़कर ही जाना जा सकता है। आपके उपन्यासों में "चन्द हसीनों के खतूत,' शीर्षक उपन्यास की शैली अधिक गतिसम्पन्न है। आजकल आप सिनेमा व्यवसाइयों के लिए अभिनय योग्य भारतीय-संस्कृति-उद्दीपक नाटक लिखते हैं। आप के लिखे तीन नाटकों ने भारतीय सिनेमा-दर्शकों से अच्छी प्रशंसा पायी है। यदि शैली से ध्यान हटाकर हम उग्रजी के विषय-चयन की समीक्षा करते हैं, तो हम दूसरे निष्कर्ष पर जा पहुँचते हैं। समाज के काले नङ्गे चित्रों को देखते देखते आपकी विवेक-दृष्टि भी कुण्ठित और अन्धी हो गयी है। दूसरे के विवेक का ध्यान न करके आप सबकी आँखों की लज्जा धो देना चाहते हैं। फटे हुए चीथड़ों में लिपटे हुए कङ्काल के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना दूसरी बात है और चीथड़ों की दुर्गन्ध नाक तक पहुँचाना दूसरी बात है। उग्रजी की प्रतिभा अधोगामिनी है।

हिन्दी गद्य में काव्य की धारा बहाने वाले प्रतिष्ठाप्राप्त लेखकों में

रायकृष्णदास का भी स्थान है। इनकी भाव-प्रकाशन की प्रणाली में विचित्रता है। परोक्ष के प्रति अपनी अनुभूति को जिस भावुकता से आप व्यक्त करते हैं उसमें कला का स्वरूप होता है। आपने उर्दू का पूर्ण बहिष्कार नहीं किया है। व्यावहारिक हिन्दी को अपनाया है। कहीं कहीं पर आपने उर्दू के मुहावरों तक को हिन्दी का झोलङ्गा पहनाया है। आप की शैली में बनारस के चलते हुए शब्द भी हमें मिलते हैं। आप का भावाभिव्यंजन सरल, सुन्दर और गठीला है। दीर्घ समस्तपदों का आश्रय लिये बिना तथा क्लिष्ट संस्कृत तत्समता को भी बचाते हुए, आपने विवेचन में हृदय-स्पर्शी सुन्दरता सजा दी है। आपकी रचनाएं सर्वाङ्ग काल्पनिक हैं। उनमें 'प्रसाद' जी की स्फूर्ति है। नीचे आप का एक गद्य-खण्ड उद्धृत किया जाता है :—

राय कृष्णदास

"हाट का समय बीत जाने पर मुझे वहाँ जाने की सुध आयी। कितनी ही आवश्यक वस्तुएं लेनी-बेचनी थीं। मैं विकल हो उठा।

अब क्या हो सकता था ? सन्ध्या बेला थी। प्रतीची ने दिन भर के थके-माँदे सूर्य का स्वागत किया और उसने उसका आतिथ्य अनुराग से अङ्गीकार करके विश्राम लिया। सब अपना अपना काम करके लौट रहे थे। देख देख करके मैं तड़पने लगा। मेरी दशा बस वह पक्षी जान सकता है जो बसेरे के लिए अपने घोंसले को नहीं लौट पाता।

अब मेरी कुण्डी खटकी। मैंने द्वार खोल तो दिया, पर न जाने क्या बड़बड़ाते हुए"।

एक दूसरे विषयपर एक दूसरा गद्य-खंड देखिये :—

"आनन्द की खोज में कहाँ कहाँ न फिरा ? सब जगह से मुझे उसी भाँति कलपते हुए निराश लौटना पड़ा जैसे चाँद की ओर से चकोर लड़खड़ाता हुआ फिरता है।

मेरे सिर पर कोई हाथ रखने वाला न था और मैं रह रह कर यही बिलखता था कि जगन्नाथ के रहते भी मैं अनाथ कैसे रहता हूँ ?

क्या जगत के बाहर हूँ ?

मुझे यह सोचकर अचरज होता कि आनन्द-कन्द-मूलक, इस विश्व-वल्लरी में मुझे आनन्द का अणु मात्र भी न मिले। हा! आनन्द के बदले में रुदन और शोच का परितोष कर रहा था।

राय कृष्णदास

अन्त को मुझसे न रहा गया। मैं चिल्ला उठा! आनन्द! आनन्द! कहाँ है आनन्द? हाय! तेरी खोज में मैंने व्यर्थ जीवन गँवाया। बाह्य प्रकृति ने मेरे शब्दों को दुहराया, किन्तु मेरी आन्तरिक प्रकृति स्तब्ध थी। अतएव मुझे अतीव आश्चर्य हुआ। मुझसे पूछ उठा, 'क्या कभी अपने आप में भी देखा था'? मैं अवाक् था।

सच तो है। जब मैंने उसी विश्व के एक अंश को अपने आप तक में न खोजा था, तब मैंने यह कैसे कहा कि समस्त सृष्टि छान डाली? जो वस्तु मैं ही अपने आपको न दे सका, वह भला दूसरे मुझे क्यों देने लगे?

परन्तु यहाँ तो जो वस्तु मैं अपने आपको न दे सका था, वह मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से मिली और जो मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से न मिली

थी, वह अपने आप में मिली।"

इस दर्शन-वर्णन में दार्शनिकता नहीं अनुभूति है। आगे के अपूर्त विषयक अन्योक्ति देखिये :—

"तुम्हें लुभाने के लिए खूब सज-सजा कर घर से बाहर निकला। राज-पथ पर भीड़ थी, इससे मुझे रुकना पड़ा। लोग मेरी ओर देखने और सजावट की प्रशंसा करने लगे। भला, प्रशंसा किसे पागल नहीं कर देती ? मैं भी अपना प्रकृत-उद्देश भूल कर, उन्हें अपनी सजावट दिखाने लगा। आनन्द से मेरा हृदय नाच रहा था।

यहाँ तक कि अभिमान ने मुझे अन्धा बना दिया। तुम भी आकर उसी भीड़ में खड़े हो गये और मुझे देखने लगे ; पर मैंने तुम्हें न देखा।

सन्ध्या को भीड़ छँट गयी और तुम्हारे दान के बोझ से दबे मँगते लौटने लगे ; तब मेरी आँखें खुलीं।

परन्तु अब हो क्या सकता था ? हाय ! इस दिखावे में मैं तुम्हें न न देख सका।"

इसमें भी आध्यात्मिकता की वही लहर है। कृष्णदास की शैली में भावात्मिकता का सन्निवेश कृत्रिम सा मालूम होता है; उसका प्रमुख गुण चिन्तना ही है। फिर भी वह हृदय पर असर करती है।

अपने भावोद्वेग को प्रबलतर बनाने की दृष्टि से, आपने भी उग्र जी की भाँति, वाक्य-विन्यास में किञ्चित उलट-फेर स्वीकार की है। आपकी सालंकार शैली में उच्च कोटि का भाव-प्रकाशन है। आपके उपमान प्रेमचन्द अथवा उग्र जी की भाँति इस लोक से सम्बन्धित, व्यवहार-क्षेत्र के न होकर, कल्पना-लोक की भाव-गरिमा प्रस्तुत करते हैं। प्रसाद की तरह आपकी शैली में भावुकता के दर्शन चाहे न हों, किन्तु इसमें वह प्रखर कल्पना और दिव्यता अवश्य है। उदाहरणार्थ दो वाक्य उद्धृत हैं :—

"वह कन्या प्रभात वेला की ऐसी टटकी और कमनीय है तथा स्वाती की बूंद की तरह निर्मल, शीतल और दुर्लभ है।"

"सुप्त बालक के मुँह पर जिस प्रकार हँसी झलक जाती है उसी तरह दिन बीत गया।"

राय साहब का शब्द-चयन भी शुद्ध, सार्थक, अनूठा है; दुरूह नहीं है। वाक्यों में परस्पर सुन्दर सामञ्जस्य और शैली में मनोरम प्रवाह है। आपकी 'साधना' अपने ढङ्ग की एक उत्कृष्ट कृति है। आपके गद्य-खण्ड अधिकांश में अन्योक्तिमय हैं; अतएव वाच्यार्थ की ओर अधिक ध्यान न देकर ध्वन्यार्थ को ही प्रधान मानना चाहिए। उनके खण्डों का रवीन्द्रनाथ की 'गीताञ्जलि' से किसी अंश तक साम्य स्थिर किया जा सकता है। परन्तु आदर्श की प्रेरणा ने नक़ल की कृत्रिमता उत्पन्न कर दी है। उनमें स्वाभाविकता की कमी है।

वियोगी हरि

वियोगी हरि जी गद्य तथा पद्य दोनों क्षेत्रों के प्रतिभावान लेखक हैं। वियोगी हरि का स्थायीभाव अध्यात्मवाद है। भक्ति की बड़ी ऊँची पावन भूमि से उनके उद्गार निकलते हैं। नीचे 'प्रेम और विरह' नामक प्रवन्ध का अंश दिया जाता है। यह वास्तव में उनके मनोभाव का असली रूप है।

"सद्गुरु कबीर की एक साखी है—

विरह अगिन तन मन जला, लागि रहा ततजीव।
कै वा जानै विरहिनी, कै जिन भेटा पीव॥

विरह की अग्नि से जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही शरीर भस्मीभूत हो चुके, तब कहीं इस प्रेम-विभोर जीव का उस परम प्रिय तत्व से तादात्म्य हुआ। इस विरहानल-दाह का आनन्द या तो विरहिणी ही लूटती है और या वह सुहागिनी, जिसकी अपने वियुक्त प्रियतम से भेंट हो चुकी है। महात्मा कबीर की एक और साखी विरह-तत्व का समर्थन कर रही है—

विरहा कहै कबीर सों, तू जनि छाँड़ै मोहि।
पारब्रह्म के तेज में, तहँ लौ राखों तोहि॥

इसमें सन्देह नहीं कि अत्यन्तिक विरहाशक्ति ही प्रेम की सब से ऊँची अवस्था है। प्रेम की परिपुष्टि विरह से ही होती है। विरह एक तरह का पुट है। बिना पुट के वस्त्र पर रङ्ग नहीं चढ़ता। सूरदास जी ने क्या अच्छा कहा है—

ऊधो, विरहा प्रेम करै।
ज्यों विनु पुट पट गहै न रङ्गहि, पुट गहे रसहि परै॥

जब तक घड़े ने अपना तन, अपना अहङ्कार नहीं जला डाला, तब तक कौन उसके हृदय में सुधा-रस भरने आयेगा? विरहाग्नि में जलकर शरीर मानों कुन्दन हो जाता है। मन का वासनात्मक मैल जलाकर उसे विरह ही निर्मल करता है—

विरह-अगिन जरि कुन्दन होई। निर्मल तन पावै पै सोई॥

—उसमान

बिना विरह के प्रेम की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसी तरह बिना प्रेम के विरह का भी अस्तित्व नहीं है। जहाँ प्रेम है वहाँ विरह है? प्रेम की आग को विरह-पवन ही प्रज्वलित करता है। प्रेम के अङ्कुर को विरह-जल ही बढ़ाता है। प्रेम-दीपक की बाती को यह विरह ही उकसाता रहता है।"

वियोगी हरि

गद्य-पद्य समन्वित कैसा काव्यमय प्रवाह है। खुला हुआ हृदय असीम प्रियतम की जुस्तजू में एक अजीब अभिव्यंजन में बह निकला है। दूसरा उद्धरण देखिये—

"किसानों और मजदूरों की टूटी-फूटी झोपड़ियों में ही प्यारा गोपाल वंशी बजाता मिलेगा। वहाँ

जाओ और उसकी मोहनी छवि निरखो। जेठ-वैसाख की कड़ी धूप में मज़दूर के पसीने की टपकती हुई बूँदों में उस प्यारे राम को देखो। किसी धूल भरे हीरे की कनी में उस सिरजनहार को देखो। जाओ, पतित पद-दलित अछूत की छाया में उस लीला-विहारी को देखो।

\+ + ×

तुम न जाने कहाँ उसे खोज रहे हो? अरे भाई यहाँ वह कहाँ मिलेगा? इन मन्दिरों में वह राम न मिलेगा। इन मसजिदों में अल्लाह का दीदार मुश्किल है। इन गिरजों में कहाँ परमात्मा का वास है? इन तीर्थों में वह मालिक रमने का नहीं। गाने-बजाने से भी वह रीझने का नहीं। अरे, इन सब चटक-मटक में वह कहाँ? वह तो दुखियों की आह में मिलेगा। ग़रीबों की भूख में मिलेगा। दीनों के दुःख में मिलेगा। सो तुम वहाँ खोजने जाते नहीं। यहाँ व्यर्थ फिरते हो।

दीनबन्धु का निवास-स्थान दीन हृदय है। दीन-हृदय ही मन्दिर है, दीन-हृदय ही मसजिद है, दीन-हृदय ही गिरजा है। दीन-दुर्बल का दिल दुखाना भगवान् का मन्दिर ढहाना है। दीन को सताना सबसे भारी धर्म-विद्रोह है। दीन की आह समस्त धर्म-कर्मों को भस्मसात् कर देने वाली है। सन्तवर मलूकदास ने कहा है—

"दुखिया जनि कोइ दूखिये, दुखिये अति दुख होय।
दुखिया रोइ पुकारिहै, सब गुड़ माटी होय॥"

दीनों को सता कर, उनकी आह से कौन मूर्ख अपने स्वर्गीय जीवन को नारकीय बनाना चाहेगा? कौन ईश्वर-विद्रोह करने का दुस्साहस करेगा? ग़रीब की आह भला कभी निष्फल जा सकती है—

"तुलसी हाय ग़रीब की, कबहुँ न निष्फल जाय।
मरे बैल के चाम सों, लोह भस्म ह्वै जाय॥

और की बात हम नहीं जानते, पर जिसके हृदय में थोड़ा-सा भी प्रेम है, वह दीन-दुर्बलों को कभी सता ही नहीं सकता। प्रेम निर्दय कैसे हो सकता है? उसका हृदय तो दया का आगार होता है। दीन

को वह अपनी प्रेममयी दया का सबसे बड़ा और पवित्र पात्र समझता है। दीन के सकरुण नेत्रों में उसे अपने प्रेमदेव की मन-मोहिनी मूर्त्ति का दर्शन अनायास प्राप्त हो जाता है। दीन की मर्म-भेदिनी आह में उस पागल को अपने प्रियतम का मधुर आह्वान सुनायी देता है। इधर वह अपने दिल का दरवाजा दीन-हीनों के लिए दिन-रात खोले खड़ा रहता है और उधर परमात्मा का हृदय-द्वार उस दीन-प्रेमी का स्वागत करने को उत्सुक रहा करता है। प्रेमी का हृदय दीनों का भवन है, दीनों का हृदय दीनबन्धु भगवान् का मन्दिर है और भगवान का हृदय प्रेमी का वास-स्थान है। प्रेमी के हृदेश में दरिद्रनारायण ही एक मात्र प्रेम-पात्र है। दरिद्र-सेवा ही सच्ची ईश्वर-सेवा है। दीन-दयालु ही आस्तिक है, ज्ञानी है, भक्त है, और प्रेमी है। दीन-दुखियों के दर्द का मर्मी ही महात्मा है। ग़रीबों की पीर जाननेहारा ही सच्चा पीर है। कबीर ने कहा है—

"कबिरा" सोई पीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफ़िर बेपीर॥"

भक्तिभाव के अलौकिक उत्कर्ष ने असीम से सोहाग प्राप्त करके जिस सरस्वती के प्रवाह की सृष्टि की है वियोगी जी की निजी राष्ट्रीय भावना ने उसे एक दूसरा रूप दे दिया और दीन-बन्धु के लिए की गयी पुकार में भारतीय दीनों के आर्त्तनाद का चित्र खड़ा किया गया है। यह वह साम्यवाद है जिसका धरातल इस लोक से ऊपर उठा हुआ है। इसीलिए इस शैली में भी एक प्रकार का साम्यवाद है। वियोगी हरि की अन्योक्ति-प्रियता का एक उदाहरण देखिये:—

"अरे भैया घड़ी भर विश्राम तो कर ले। इस पेड़ की डाल पर अपनी पोटली टाँग दे और बैठकर दो घूंट ठंडा पानी पी ले। कहाँ से आ रहा है भैया? पसीने से लथपथ हो रहा है। साँस पेट में नहीं समाती। पैर सूज गये हैं। कलेजा भूख के मारे मुँह को आ रहा है। अभी और कहाँ तक जाना है भाई?"

"क्या पूछते हो ? कुछ पता नहीं, कहाँ तक जाना है ?"

" ऐं ! यह कैसी बात ? कुछ पता नहीं !

"हाँ भाई कुछ पता नहीं। चलते चलते न जाने कितने दिन हो गये पर अभी तक मुझे यह मालूम नहीं कि मैं किधर जा रहा हूँ। अनेक नगर, गाँव, खेड़े, नदी, नाले, पहाड़, टीले, जंगल पार करके जब मैं आगे नजर फेंकता हूँ तब अनन्त क्षितिज-रेखा ज्यों की त्यों ही दिखायी देती है। कभी कभी तो मैं जहां से चलता हूँ वहीं फिर घूम-घाम कर आ पहुँचता हूँ। कोई मुझे मेरा पता भी ठीक ठीक नहीं बतलाता। संगी-साथी भी अब तक कोई मन का नहीं मिला। गठरी के बोझ के मारे गर्दन झुक गयी है, सिर फटा जाता है। टेकने की लाठी भी गिर गिर जाती है। बड़ी आफ़त है। क्या करूँ, क्या न करूँ !"

"इस पोटली में क्या क्या है ?"

"सुन कर हँसोगे। सिवा कंकड़-पत्थर के रखा ही क्या है !"

"तो फेंक क्यों नहीं देते ?"

"कैसे फेंक दूँ ? लालच बुरी बला है। लोग कहते हैं कि एक दिन यह कंकड़-पत्थर हीरे मोती हो जायँगे। राम जाने उनकी इस भविष्य-वाणी में कहाँ तक तथ्य है ?"

"तो क्या तुम इन्हीं हीरे मोतियों की टोह में बावले बने घूम रहे हो ? अजीब आदमी हो। इन कंकड़-पत्थरों को फेंक-फाँक कर उस सच्चे हीरे की खोज क्यों नहीं करते, जिसे पाकर तुम्हारी सारी यात्रा सफल हो जायगी।"

"तेरा हीरा हेराइगा कचरे में"—यह विराग भरी स्वरावली कहीं से प्रताड़ित हो हम लोगों के कानों में गूँजने लगी।

पथिक ने उस गान को सुन कर पूछा—

"क्यों भाई ! तुम मुझसे इसी हीरे के खोजने के लिए कहते थे। यह हीरा कहाँ मिलेगा ?"

"तुम्हारी इसी फटी पुरानी गुदड़ी में कहीं छिपा होगा। उसके लिए तुम्हें पूरब-पच्छिम न भटकना पड़ेगा। अहा! उस हीरे की दमक हज़ारों सूर्य और चन्द्र के प्रकाश से कहीं बढ़कर है। उसका जौहर हर एक नहीं जानता। लाख क्या करोड़ में कहीं उसका एक जौहरी मिलेगा।"

"इसी फटी-पुरानी गुदड़ी में! तो फिर दिखायी क्यों नहीं देता?"

"धूल-भरा है न? फिर कैसे दिखायी देगा?"

"दृष्टि निर्मल करो। दिव्य-दृष्टि से उसका दर्शन होगा। दिव्य-दृष्टि का अंजन तुम्हें इस वृक्ष के नीचे ही मिल जायगा। धीरज धरो, पथिक! बहुत भटक चुके, अब चलने फिरने की ज़रूरत नहीं। तुम चाहोगे तो वह हीरा इसी क्षण मिल जायगा।'

पथिक की आखों से आसुओं की धारा बहने लगी और उसकी सफ़ेद दाढ़ी पर से मोती जैसी बूँदें टपक पड़ीं।"

इस अभिव्यंजना में पूर्ण गंभीरता एवं मार्दव है। मस्ती का अलंकारिक नियंत्रण है और संकेत की प्रश्रयता शैली की ख़ूबी को दुगुनी किये है।

पूर्ण साहित्यिक रचना का एक खंड और देखिये। इसमें अध्यात्मिकता की झाँकी यत्र-तत्र दिखायी दे जाती है; परन्तु साधना का सूत्र साहित्य से ही प्रधान रूप से बँधा है। नीचे के खंड की कल्पना भी ध्यान देने योग्य है:—

"भला, देखिये तो, बूढ़े ब्रह्मा से कितनी भारी भूल हुई है? आँख को धर गिनाया है इन्द्रियों में। यदि रूखे-सूखे वेदान्ती इन्द्रियों की भर पेट निन्दा न कर डालते, तो आँख को भी इन्द्रियों का सजातीय मानने में हमारी आँख नीची न पड़ती। क्या नेत्रानन्द इन्द्रिय-परायणता की कोटि में आ सकता है? कदापि नहीं। इन्द्रियाँ भली हों या बुरी, यह सब जाने वेदान्ती। हमें तो अपनी आँख इन्द्रियों से परे माननी है। रसना के रसों में वह रस कहाँ, जो 'अमी हलाहल

मद भरे, सेत, स्याम रतनार' में है। कान बेचारे यही मनाया करते हैं कि उन नुकीली आँखों की पैनी अनी किसी न किसी तरह हमारे हृदय में चुभा करे। नाक का तो कुछ कहना ही नहीं, यह भी मान लिया जाय कि 'नाक' स्वर्ग को कहते हैं, तब भी क्या हुआ, 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकम् विशंति'। पुण्य क्षय होने पर नाक से मर्त्यलोक और मर्त्यलोक से नरक वा स्वर्ग-प्राप्ति की परम्परा अबाधित है।

नाक से ऊपर आँख ही है। आँख में समाया कि फिर लौटने का नहीं। एक दम मुक्त। त्वचा का भी इसी प्रकार बचा-खुचा अनुभव-ज्ञान समझना चाहिए। बिना आँख वाले ही इधर उधर टटोलते फिरते हैं। अब आयी आँख महरानी। दासी इन्द्रियाँ इनकी टहल किया करती हैं। मन महीप की महरानी यही हैं। अनुराग का यहाँ सदा सुहाग भरा पूरा रहता है। लाज का लहँगा और शील की साड़ी करुणा की कंचुकी के साथ ऐसी दिप रही है कि जैसी कुछ चाहिए। कल्पना की कुञ्ज में आप क्रीड़ा किया करती हैं। मान की मीठी मिठाई चख कर अपना "चख" नाम सार्थक करती है।

सानुप्रास कवितामय-गद्य लिखने में आप प्रसिद्ध और अग्रगण्य हैं। इनके गद्य-काव्य पाण्डित्य-मण्डित होते हैं। इनकी व्यञ्जना कहीं कहीं अत्यन्त स्थूल हो गयी है। आप लेखनी के बड़े सहृदय और भावुक हैं। आराध्य के प्रति प्रेमभाव प्रदर्शित करते हुए आप एक वाक-पटु-रसिक बन जाते हैं। आपकी भाव-प्रधान शैली में उत्कृष्ट व्यञ्जना-प्रणाली के साथ प्रचुर भाषा-सौष्ठव मिलता है। कोमल सानुप्रास वाक्धारा में हृदय की अनुभूति निखरी पड़ती है। कुछ लोग आपकी समासान्त पदावली को बुद्धि के लिए दुर्गम भले ही समझें, उसमें अस्पष्टता और कृत्रिमता तक निहारें, किन्तु वे उनकी भाव-प्रवरता और सामंजस्य-पूर्ण कथन-विधि से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते।

वास्तव में आपकी व्यञ्जना विषय के अनुरूप और

स्वाभाविक होती है। उसमें एक अद्भुत प्रवाह और रोचकता भी है। किन्तु यह सत्य है कि कहीं कहीं व्यञ्जना को सुन्दर बनाने की धुन में आपने संस्कृत की तत्समपदावली बुरी तरह उँडेल दी है। किन्तु साथ ही भाषा में सरलता और चपलता लाने के मिस आपने उर्दू का भी निर्बाध प्रयोग किया है।

आपका वाक्य-विन्यास और आपकी शब्दावली सर्वत्र श्रुतिमधुर और आकर्षक है। यही आपकी शैली की विशेषता है। आपके श्रीकृष्ण के प्रति व्यङ्ग अनूठे हैं। जिस मस्ती के साथ आपकी शैली आगे बढ़ती है उसमें भावना का ज्वालामुखी तड़पता रहता है।

वियोगी हरि की मेधा-शक्ति बड़ी तीक्ष्ण है। उन्हें अपनी शैली के विन्यास में, संस्कृत, फ़ारसी आदि के विद्वानों की मार्मिक उक्तियों का एक सुन्दर सोपान मिलता जाता है, जिसके सहारे आप अपनी भावुकता को लेकर रागात्मकता के चरम उत्कर्ष तक पहुँच जाते हैं। वास्तव में प्राचीन रस परिपूर्ण मार्मिक उक्तियों के विचारों को सहेतुक ढंग से सजाने में ही आपकी चपल शैली की विशेषता है।

स्वर्गीय बद्रीनाथ भट्ट वर्तमान युग के उन इने-गिने पिछड़े लेखकों में थे जिनकी लेखनी बहुत काल से विश्राम ले चुकी थी।

बद्रीनाथ भट्ट

स्वभाव के मधुर, मिलनसारी की मूर्ति बद्रीनाथ कभी खिन्न मुख नहीं देखे गये। उनका हमेशा खिला हुआ मुख बात बात में व्यङ्ग करता था। बड़ी शीघ्रता से वे घुलमिल जाते थे। 'हास' उनके जीवन का स्थायी भाव था।

उनकी बनावट बड़ी भावुक थी। उनकी सजगता बड़ी सजीव थी। अंग्रेज़ी लेखक स्टिविन्सन की भाँति, दीर्घव्यापी रुग्णता को झेलते हुए भी, बद्रीनाथ कभी म्लान नहीं हुए। वे प्रकाश में आने से घबड़ाते थे। एकान्त जीवन, जिसमें मित्रों की मुस्कराहट और उनका अट्टहास मौजूद हो, उन्हें बड़ा पसन्द था। बहुत समय तक उन्होंने 'बालसखा' का सम्पादन किया। फुटकर लेखों के अतिरिक्त भट्टजी

ने कई नाटक और प्रहसन लिखे। 'कुरु-वन दहन' और 'चन्द्रगुप्त' में भूत और वर्तमान का मेल है। 'चुङ्गी की उम्मेदवारी' में म्युनिसिपल्टियों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों का अच्छा उपहास है। 'लबड़ धौं-धौं' में आपके व्यंग्यात्मक लेखों का संग्रह है। मिस अमेरिकन में कुछ आस-पास के परिचितों का खाका है। 'राजपरिवर्तन' तथा 'तुलसीदास' में भी क्रमशः बद्रीनाथ के राजकीय और सामाजिक विचारों का निदर्शन है। 'हिन्दी' हिन्दी का छोटा इतिहास है।

'बद्रीनाथ भट्ट'

वैसे तो थोड़े हेर-फेर के साथ बद्रीनाथ भट्ट में कई शैलियों के दर्शन होते हैं परन्तु उनकी विशेष शैलियाँ तीन हैं। गवेषणात्मक अथवा समीक्षात्मक विषयों पर लिखते समय वे महावीर प्रसाद द्विवेदी की गवेषणात्मक शैली का अनुसरण करते हैं। छोटे-बड़े वाक्य और हलके-हलके शब्द उनकी विशेषता हैं। एक उदाहरण उनकी 'हिन्दी' से दिया जाता है:—

"गद्य के पीछे पद्य का जन्म होना स्वाभाविक है, किन्तु संसार के लगभग सभी साहित्यों में जो पहली कृति हमको मिलती है वह पद्य में है। कविता क्यों लिखी जाती है, यह प्रश्न ही दूसरा है। किसी कारण मनुष्य के हृदय में जब कुछ आनन्द उमड़ता या ठेस लगती है तब उसके हृदय की दशा कुछ विचित्र सी हो जाती है। इसी दशा को हम कविता की जननी कहते हैं। चारणों और भाटों के अलावा न जाने कितने लोगों ने हिन्दी में ईश्वर के गुण गाये होंगे,

उसको धन्यवाद दिये होंगे, उसके सामने अपना दुखड़ा रोया होगा, लोगों को नीति के मार्ग पर चलाने के लिए उपदेश किये होंगे, अपनी-अपनी समझ के अनुसार संसार की असारता या सारता दिखायी होगी, सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया होगा; परन्तु खोज करने पर भी उनकी रचनाओं का पता अभी तक नहीं चला। इसलिए जो कुछ हमारी आँखों के सामने है उसी को देख कर कहना पड़ता है कि जो रचना हमारे यहाँ सब से पुरानी मिलती है उसमें से अधिकतर भाटों और चारणों की है। शोक है तो यह कि इनकी रचना भी पूरी नहीं मिलती। समय के फेर से, राज्यों के ध्वंस होने से और दूसरे अनेक कारणों से जितनी सामग्री नष्ट हो गयी उसका सौवाँ हिस्सा भी आज हमको नहीं मिलता।"

वाक्य कहीं कहीं कुछ बड़े हो गये हैं परन्तु आदर्श एक ही है। उनकी दूसरी शैली भावात्मक होती है। इसके अन्तर्गत कभी बद्रीनाथ वर्णनात्मक प्रसङ्गों को अनलङ्कारिक भाषा में लिखते चले जाते हैं और कभी अलङ्कारिक रूपकों को बाँधते हैं। अथवा व्यङ्ग करते चले जाते हैं। पहली विधान का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

"यक्ष—यहाँ आने वाली आत्माएँ अपनी प्रकृति के अनुसार संसार अथवा मोक्ष की ओर चली जाती हैं। अनेक जन्मों के सञ्चित संस्कारों के अनुसार किसी की प्रकृति संसार का उपकार करने के निमित्त फिर मनुष्य-शरीर धारण करने की होती है और किसी की परमात्मा में जा मिलने की। अतएव प्राचीन काल के वीर यहाँ अब नहीं रहे। हाँ, हाल के कुछ वीरों के दर्शन अवश्य हो जायँगे। (दिव्य सङ्गीत की ध्वनि सुन पड़ती है) देखिये, आपके पधारने पर यहाँ उत्सव और हर्ष मनाया जा रहा है।"

इसी शैली में बड़े प्रवाह के साथ बद्रीनाथ भट्ट मनःतत्व का विश्लेषण अथवा भावों का निदर्शन करने लगते हैं। भावों के नाना

रूपों और विचारों के नाना खण्डों में सूक्ष्म और पैनी पहुँच बद्री-नाथ की नहीं है, परन्तु जहाँ तक वे पहुँच पाते हैं उसका अच्छा चित्रण उपस्थित कर सकते हैं। नीचे एक उदाहरण इसका उपस्थित है:—

"धरवारी०—महारानी जी ने पिता जी को नजर-क़ैद कर रक्खा है। अच्छा, देखा जायगा। अभी पिता जी से मुझे पता लगा है कि यह राज्य शीघ्र ही उलटने वाला है और इसके उलट जाने पर मुझको—क्योंकि पिता जी तो अब बूढ़े हो चले हैं—बड़ी अच्छी जगह मिलेगी। एक जागीर की जगह सौ जागीरें मेरे पैरों में मारी-मारी फिरेंगी। पिता जी का यह कहना बिलकुल सच है कि हमारे पुरखों ने अपने रक्त से इस राज-रूपी वृक्ष को सींचा था। मैं तो यों कहूँगी कि इस विष-वृक्ष को रोपा था, सो अब, जब कि बड़ा हो गया है, इसके फल भी हमें ही खाने पड़ रहे हैं। ठीक ही है। यदि ऐसा न हो, तो इस समय को कलयुग कोई क्यों कहे?

मैं पूँछता हूँ, कौन करता था प्रजा को तंग? यदि घड़ी भर के लिए मान भी लें कि हम प्रजा को तंग करते थे, तो क्या आप हम लोगों—जमींदारों—को तंग नहीं करतीं? प्रजा पशु नहीं है, तो आखिर हम भी तो पशु नहीं हैं। यदि प्रजा पर साम-दाम-दण्ड-भेद से शासन करने वाले—या आप की इच्छा हो तो यों कह लीजिये कि उस पर मनमाना अत्याचार करने वाले—किसी जागीरदार की जागीर छीन लेना अन्याय नहीं है, तो जागीरदारों को तंग करने वाले राजा अथवा जैसा अवसर हो—रानी का राज्य उलटवा देना भी अन्याय नहीं है। यही होना भी चाहिए। जिनकी छिन चुकी, उनकी छिन चुकी; औरों को सदा यह उबका लगा रहता है कि अब की बार कहीं हमारी जागीर न छिन जाय।

वाह, क्या अच्छा प्रबन्ध है! प्रजा सुखी ही सही, सरदार लोग

ऊपर के अवतरण की शैली में लेखक की अनिश्चयात्मकता तथा अभिव्यक्ति की स्पष्टता में संदेहात्मकता भासित होती है, इसीलिए पुनरावृत्ति का आश्रय लिया गया है। यदि कथोपकथन के बीच यह प्रसंग न होता तो वाक्जाल के असाधारण फैलाव के कारण वाक् विदग्धता अधकचरी समझी जाती। यह शैली बहुत श्लाघ्य नहीं है। अवतरण में अधिक वाक्य बड़े बड़े नहीं हैं और अर्थ में स्पष्टता अधिक है। कहीं कहीं पर अलङ्कारों का भी आश्रय लिया गया है जिससे अभिव्यक्ति में मार्दव आ गया है।

बद्रीनाथ भट्ट की व्यंगात्मक शैली ही उनकी विशेषता है। उसका निखरा हुआ रूप, उनकी 'गोल-माल-कारिणी सभा' की सूचनाओं में दिखायी देता है। पहले 'प्रताप' में ये सूचनाएँ प्रकाशित होती थीं बाद में 'सैनिक' में प्रकाशित होने लगीं। जिस समय कौशिक जी की 'विजयानन्द दुबे की चिट्ठी' आज पढ़ी जाती हैं उस समय बद्रीनाथ भट्ट का स्मरण अवश्य आ जाता है। यद्यपि कौशिक जी की भाँति बद्रीनाथ शिष्ट व्यङ्ग लेखक न थे तथापि उनकी लेखनी में बड़ी सरसता और चुटीलापन था। कभी कभी इनकी चुटकियाँ बड़े बड़े बकोटे हो जाते थे और विनोदपूर्ण व्यङ्ग के स्थान में विद्वेष-पूर्ण अभद्रता की दुर्गन्ध आने लगती थी। व्यक्तिगत आक्षेपों में कभी कभी बद्रीनाथ बुरी प्रकार से घसिट जाते थे।

हास्यरस के निर्माण में भी बद्रीनाथ हमेशा पवित्रता को साथ नहीं रख सके। व्यंग का कोमल रूप तो अभिव्यक्ति को चमका ही देता है परन्तु उसका कठोर रूप लक्ष्य पर बड़े-बड़े ढेलों की वर्षा वाली शैली की सृष्टि करता हुआ, अश्लीलता को कभी नहीं अपनाता। बद्रीनाथ ने जब कभी व्यंग को छोड़ दिया और रसात्मकता में बहने लगे, वे शील की रक्षा नहीं कर सके। 'मिस अमेरिकन' ऐसी ही पुस्तक है। वह बद्रीनाथ की लेखनी का गौरव नहीं है। "लबड़ धौं-धौं" के कुछ लेखों में, तथा 'चुंगी की उम्मेदवारी' और

अन्य प्रहसनों के कई स्थलों में 'भोंडापन' प्रविष्ट हो गया है। यह बात नहीं कि बद्रीनाथ भट्ट साफ़-सुथरा लिख ही न सकते थे। नीचे का उदाहरण देखने योग्य है:—

"राव०—इसीलिए तो मैंने अपने इलाक़े का प्रबन्ध आदर्श कर दिया है और इसीलिए तो मैंने बहुत से सुधार कर दिये हैं। अर्थात् किस लिए? और सुधार भी कैसे? लीजिये पहला सुधार—कोई आदमी मेरे राज्य में जूता न पहन सके; क्योंकि मैं भी जूता पहनता हूँ, वे भी जूता पहनेंगे, तो क्या वे मेरे बराबर हैं? दूसरा सुधार—कोई भी मेरे राज में धूप अथवा बरसात में छतरी न लगा सके; क्योंकि हम छतरी लगावें तो फिर सब दुनियाँ क्यों लगावे! क्या सब दुनिया हमारी बराबरी करेगी? तीसरा—मेरे राज में कोई गाड़ी-घोड़ा न रखने पाये, और अगर रक्खे, तो घोड़े की पूँछ में बाँध कर घिसटवा दिया जाय। चौथा सुधार—अगर मेरे कुनबे में एक मच्छड़ की भी मौत हो जाय, तो सारा इलाक़ा का इलाक़ा अपना सिर और मूँछें मुड़ावे। सरदारी यों होती हैं; प्रबन्ध इसको कहते हैं!

(एक माली का आना और गुलदस्ता भेट करना)

(माली से) तू यह अच्छा ले आया। देख! इस में जो फूल हैं, उनमें रूप, रस, गन्ध, इतनी चीज़ें हैं। समझता है? ये रूप, रस, गन्ध नाम की जो चीज़ें हैं, सो इन्द्रियों को लुभाने वाली हैं। उन्हीं की बदौलत ब्रह्म को जीव-संज्ञा प्राप्त होती है। यह बात तू बेचारा क्या समझे, जब कि बड़े-बड़े ज्ञानी इन बातों में ग़ोते खाने लगते हैं, बल्कि खा जाते हैं। जैसे फूल में काँटा है, वैसे ही सुख के साथ दुख लगा हुआ है। आज यह खिल रहा है, कल मुरझा जायगा। इसी तरह मनुष्य का भी हाल होता है।"

अवतरण में व्यङ्ग भी है और मर्म भी है। तथ्य-निरूपण भी है और मनोभाव-चित्रण भी। परिहास वस्तु-स्थिति के तथ्य वर्णन में छिपा हुआ है।

बद्रीनाथ भट्ट की तीसरी शैली उर्दू प्रधान है। इसका प्रयोग अभिव्यञ्जना में दौड़ उत्पन्न करने के लिए बद्रीनाथ ने किया है और इसमें उन्हें सफलता भी मिली है। सम्वादों में बहुधा ऐसे प्रयोग मिलते हैं। 'दुर्गावती' नामक नाटक का एक कथन नीचे दिया जाता है—

"सिपाही—अबे बुज़दिल! नमकहराम! लड़ाई से भाग कर अपनी जान बचाता है! तूने ही मेरे भाई को क़त्ल किया है। बहुत देर से तुझको ढूँढ़ता फिरता हूँ। मुझे क़ैद हो जाने या मारे जाने का ख़ौफ़ नहीं, सिर्फ़ तेरे ख़ून का प्यासा हूँ।"

कुछ भी हो बद्रीनाथ भट्ट का हिन्दी के लेखकों में अपना स्थान रहेगा।

यह बड़े खेद का विषय है कि हिन्दी के एक प्राचीन सेवक पर हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने यथेष्ट कृपा नहीं की। रामनरेश त्रिपाठी की सेवाएँ हिन्दी के लिए बहुत हैं।

रामनरेश त्रिपाठी हिन्दी साहित्य का ही नहीं अन्य साहित्यों के कवियों का परिचय और उनकी चलताऊ समीक्षा रामनरेश जी ने अपनी कविता-कौमुदियों के विभिन्न भागों में दी है। इससे इनकी सहृदयता-पूर्ण विद्वत्ता का तो परिचय मिलता ही है, हिन्दी के प्रति इनकी लगन की भी जानकारी प्राप्त होती है। साहित्य-क्षेत्र में इनके कई रूप हैं। ये एक तत्वशोधी इतिहासकार हैं। ये सहृदय समीक्षक और भाषा तत्ववित् हैं। ये एक प्रसिद्ध कवि, एक आख्यान और आख्यायिका लेखक तथा एक नाटककार हैं। ये कलाकार भी हैं और कला के पारखी भी। ऐसा समन्वय कम साहित्यिकों में मिलता है।

रामनरेश त्रिपाठी को कहानी लिखते समय, कविता करते समय तथा नाटक प्रणयन करते समय केवल एक विचार अत्यन्त बलवान रहता है और वह है प्रेम के असली स्वरूप की व्याख्या। वह प्रेमतत्व के समझाने के लिए उतावले रहते हैं। व्यक्ति को एकान्त भूमि से ऊपर

उठाकर व्यक्ति-समाहार के सार्वभौमिक भूमि पर प्रेम को टिकाना इनकी शिक्षा का आदर्श है। इनके आदर्श-पात्र अधिकतर इसी भाव-प्रेरणा से राष्ट्र-सेवा अथवा देश-सेवा की ओर अग्रसर होते हैं। इनके आख्यान परिस्थिति-साध्य नहीं आदर्श-साध्य है। परन्तु इस कारण उनमें जो थोड़ी बहुत प्राचीनता आ गयी है उसका परिहार नाटकीयता और रसात्मकता कर देती है।

कहानियों और नाटकों के लिखने में आप पूर्ण साहित्यिक रूप में समक्ष आते हैं। आपकी भाषा में व्यंग्यात्मक वक्रता चाहे उतनी न हो परन्तु गहराई के साथ-साथ प्रवाह देखते ही बनता है। आपकी शैली के तीन रूप तो बिलकुल स्पष्ट हैं। कलाकार रामनरेश दूसरे प्रकार की भाषा लेकर चलते हैं और समीक्षक रामनरेश की भाषा का दूसरा रूप है। उनकी 'प्रेम की भूमिका' नामक कहानी का आरम्भिक अंश नीचे दिया जाता है—

"रतन अठारह की सीमा को पार कर चुकी थी। उसके उपवन में बसन्त का आगमन हो चुका था। उसका मन एक नये रङ्ग-मञ्च पर आने के लिए वेश बदल रहा था।

इसके पहले वह किसी खिले हुए फूल को देखकर कहा करती थी—'अहा! कैसा सुन्दर फूल है'! अब वह कहने लगी थी—'अहा! इस फूल की सुन्दरता में कैसी मादकता है'!

पहले वह भ्रमर के गुञ्जार को भौंरों का एक मनोविनोद समझती थी। अब उसे भ्रमर-सङ्गीत की तरङ्गिणी में कुछ देर तक तैरने में आनन्द आने लगा था।

पहले वह तितलियों के पीछे दौड़ा करती थी। अब वह तितलियों को देखकर स्वप्न देखने लगी थी कि वह भी तितली बने और कोई उसके पीछे दौड़े।

पहले वह नदी की लहरों को देखकर कभी-कभी प्रसन्न हो जाया करती थी। अब वह नदी की लहरों को देखकर कहने लगी थी कि

पवन के कोमल स्पर्श से नदी को रोमाञ्च हो आता है।

इस तरह उसके स्वभाव में चुपचाप एक नया संसार बस गया था। उसके हृदय में रस की एक पतली-सी धारा यकायक फूट निकली थी जो प्रति दिन गहरी और चौड़ी होती जाती थी।"

दो विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों का कितना कलात्मक वर्णन है। रामनरेश त्रिपाठी प्रकृति के अच्छे भक्त हैं। वे प्रकृति के नाना रूपों में अपनी रागात्मक वृत्ति श्रद्धा के साथ टिका देते हैं। उनका प्रकृति-पर्य्यवेक्षण विशद और व्यापक है। मनुष्य के जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावभङ्गी को स्पष्ट करने के लिए वे प्रकृति के रूपों को बड़ी सरलता से गूँथ देते हैं।

ऊपर के अवतरण में यह शक्ति कितनी स्पष्ट है।' वाक्य कितने छोटे छोटे हैं, परन्तु चित्र कैसा स्पष्ट है। उनमें आजकल के लेखकों का धुँधलापन नहीं है। उनके एक नाटक का एक अंश देखिये:—

"किरण—(आप ही आप) मेरे जीवन की धारा आज से बदल गयी। मैं कल तक कन्या थी, आज बहू हूँ। कल तक माता-पिता के स्नेह की धारा में तैरती फिरती थी, आज से मैं अपरिचितों का स्नेह खोजूँगी। (कुछ सोचकर) पिता जी ने धन और सम्मान देख कर मेरे लिए यह घर पसन्द किया है। इस घर के लोगों की बोल-चाल, रहन-सहन सब गँवारों जैसी है। दिन भर गाँव की स्त्रियाँ मेरा मुँह देखने आती रहीं। सास जी हर वक्त ताकीद करती रहीं कि मैं घूँघट काढ़े रहूँ। मैं कहाँ से आ गयी! मैं कल के पहले कोयल की तरह बाग़ में इस डाली से उस डाली पर कुहकती फिरती थी; तितली की तरह उपवन में इस क्यारी से उस क्यारी में उड़ती फिरती थी। आज पिंजड़े में क़ैद हूँ। पिंजड़ा सोने ही का क्यों न हो, है तो पिंजड़ा ही।'

भावनाओं का द्वन्द्व तो नहीं है परन्तु परिस्थितियों का सहसा प्रतिकूल परिचय, किंकर्तव्यविमूढ़ता के उद्गार, सामने रख रहा है। ऐसे

स्थलों पर रामनरेश त्रिपाठी पर वर्तमान युग के सफल नाटककार जयशङ्कर प्रसाद की अभिव्यञ्जन का प्रभाव दिखायी देता है। ऐसे साक्षात् प्रणाली के उद्गार ऐसी ही वाग्-विदग्धता द्वारा प्रकट हो सकते हैं। इस अवतरण का अन्तिम वाक्य तो जयशङ्कर प्रसाद के 'आजतशत्रु नाटक' के उस स्थल का समकक्ष मालूम पड़ता है जिसमें श्यामा वेश्या, श्यामा पक्षी के साथ अपने को मिला कर साक्षात् प्रणाली के उद्गार प्रकट करती है।

रामनरेश त्रिपाठी की शैली का एक दूसरा स्वरूप देखिये:—

"नौकर—फ़ुरसत कहाँ है? दो पहर तक सो कर उठना, फिर नहा-धोकर खाना-पीना, फिर ताश-शतरञ्ज खेलना, फिर सोना, फिर शाम को हवा-ख़ोरी के लिए जाना, फिर रात में खा-पीकर रण्डी और भड़ुओं के जमघट में बैठना, जुआ खेलना, शराब पीना-इनसे छुट्टी मिले तो घर में जाँय।"

इस लम्बे वाक्य में उर्दूदानी का प्रवाह है और रामनरेश की यह शैली प्रेमचन्द की शैली से बहुत मिलती जुलती है।

रामनरेश त्रिपाठी के 'प्रेम-लोक' नामक नाटक का सब से रसात्मक प्रसङ्ग नीचे दिया जाता है:—

"किरण—बाहर अन्धकार है! घोर अन्धकार है!! मेरे जीवन में भी भीषण अन्धकार है! मेरे आकाश में एक भी तारा नहीं जिससे मैं राह पूछूँ। हाय! मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ?

(कुछ देर चुप रहती है)

वे (मदन मोहन) चले गये। अपमान की चोट न सह सके और घर छोड़कर, गाँव छोड़कर, अपने माता-पिता की कीर्ति छोड़ कर चले गये! मैं यहाँ किस के लिए रहूँ?

आज महीने भर से अधिक हो गया, उनकी कुछ भी ख़बर न मिली; वे कहाँ हैं? खाते-पीते हैं कि भूखे रहते हैं? कहाँ सोते हैं? क्या पहनते हैं? कोई नहीं जानता!

एक बार उन्हें देख पाती; माता जी की दी हुई चीज़ें उन्हें सौंप देती; और उनसे पूँछ लेती कि मेरे लिए भी कहीं स्थान है ?

कहाँ जाऊँ ? (पिता के चित्र के सामने जाकर) पिता जी ! तुम्हारे पास आऊँ ? (सोचती है) नहीं; तुम्हारे पास न आऊँगी ।

तब क्या कलकत्ते चलूँ ? कल गाँव में कोई कहता था कि उसने उनको कलकत्ते में देखा था । पता नहीं, कहाँ तक सच है !

इस सूने घर में मैं किसके लिए रहूँ ? यह घर तो मुझे खाने दौड़ता है । चलो, किरण ! चलो ! नाव को नदी की धारा में छोड़ दो । पाल खोल दो ! देखो, वह कहाँ जाकर किनारे लगती है ।

[किरण बक्स से कुछ रुपये में निकाल कर आँचल के कोने में बाँधती है । चादर ओढ़ती है । चलने को तैयार होती है । फिर सोचती है !]

घर किसके भरोसे छोड़ जाऊँ ? नौकरों के ? नहीं मंगलप्रसाद को एक पत्र लिखकर रख जाती हूँ ”

इस प्रसङ्ग का 'शोक' स्थायीभाव है । हृदय की सच्ची हालत का वर्णन दुखी 'किरण' कर रही है । इस वर्णन में न कलात्मक अभिव्यञ्जना है और न अलङ्कारों की योजना । दुख की परमावस्था में बहुत सीधी भाषा निकलती है । अतएव अभिव्यञ्जना की सादगी में कोई दोष नहीं । परन्तु न जाने क्यों ऊपर के प्रसङ्ग में वेग का यथेष्ट समावेश नहीं हो पाया । रसात्मकता हमें सराबोर नहीं कर देती । सम्भव है यह कहा जा सके कि इस स्थल में किरण के विचारों में निश्चयात्मकता है और वह भावुक कम और चिन्तनशील अधिक है । परन्तु यह अन्यत्र भी देखा गया है कि रामनरेश त्रिपाठी का दयार्द्र हृदय कारुणिक-कालेपन को पूरा पूरा रँगने में हिचक जाता है ।

रामनरेश त्रिपाठी अपनी शैली और विषय-चयन के कारण वर्तमान वर्ग के जिन गद्य लेखकों के समकक्ष रखे जा सकते हैं उनसे

एक बात में वे नितान्त भिन्न हैं। उनमें शैली की सङ्केतात्मकता छू तक नहीं गयी है। इसीलिए वे बिलकुल स्पष्ट है। उन्होंने दर्शन को भी काव्य में लपेटने का प्रयास नहीं किया। उनकी सम्भाषण-शैली का एक उदाहरण देखिये;—

"युवक—हे ग़रीब श्रेणी के लोगो! मैं आज छः महीने से तुम लोगों के अन्दर हूँ। तुम में से शायद मुझे कोई न जानता होगा; पर मैं तुम सब को जानता हूँ; क्योंकि मैं अब तक तुम लोगों के जानने का ही धन्धा करता रहा हूँ। मुझे विश्वास हो गया है कि तुम लोग एक विचित्र प्रकार की ग़ुलामी में इस तरह जकड़े हुए हो जो प्रतिक्षण तुमको सर्वनाश की ओर ले जा रही है। अन्याय और अत्याचार के भयङ्कर परिणामों को भोगते हुए रहने पर भी तुम उनके कारणों को देख नहीं पाते हो; क्योंकि वे स्वार्थी धनियों के द्वारा इतनी दूर पर रखे गये हैं कि तुम्हारी साधारण दृष्टि वहाँ तक पहुँच ही नहीं सकती और उन्होंने पेट की चिन्ता में तुमको इतना उलझा रखा है कि तुमको दूसरी बात सोचने या सुनने-समझने का समय ही नहीं मिल सकता। साथ ही भाग्य का फेर बता कर उन्होंने तुम्हारे अन्दर की उत्तेजना वाली आग भी बुझा दी है।" (जयन्त नाटक)

यह स्थल और प्रभावोत्पादक किया जा सकता था, परन्तु देश के वक्ताओं की प्रचलित शैली में नहीं, जिसका आश्रय रामनरेश त्रिपाठी ने लिया है। इस शैली में यथार्थता होने के कारण प्रभविष्णुता है। प्रभाव के दन्शन का नशा धीरे-धीरे चढ़ता है। यही इसकी विशेषता है।

आगे एक अवतरण समीक्षक रामनरेश की लेखनी का देखिये:—यह उनकी लेखनी की नयी चीज़ है :—

"कहा जाता है कि शाहजहाँ बादशाह के ज़माने में उर्दू की उत्पत्ति हुई। यह बात ग़लत है। उर्दू बाज़ार तो मुहम्मद ग़ोरी

के गुलाम कुतवुद्दीन के लश्कर में भी रहा होगा और उसमें सौदा बेचने और खरीदनेवालों के बीच की कोई बोली भी रही होगी और वह हिन्दी के सिवा दूसरी हो नहीं सकती। क्योंकि इस मुल्क के हिन्दू बनिये लश्कर में साथ रखे जाते थे। सिपाहियों को मजबूर होकर बनियों की बोली में सौदा माँगना पड़ता था। उसी में वे कुछ अपनी ज़बान के शब्द भी मिला देते थे। उस खिचड़ी हिन्दी का एक नया नाम देने की ज़रूरत यदि पड़ी भी हो तो वह 'लश्करी हिन्दी' कहला सकती है। आज कल सौ डेढ़-स वर्षों से इस मुल्क में अँग्रेज़ी राज है। हाईस्कूलों और कालेजों में जाइये तो वहाँ की हिन्दी में आप सैकड़ों अँग्रेज़ी 'वर्ड्स' काम करते हुए सुनायी पड़ेंगे, मगर उस हिन्दी का कोई अलग नाम नहीं। इसी तरह अरबी, फ़ारसी, या तुर्की के कुछ लफ़्ज़ों के आ जाने से हिन्दी का दूसरा नाम क्यों होना चाहिए?" (हिन्दुस्तानी एकेडमी)

इस गद्य-खण्ड की शैली में रामनरेश त्रिपाठी, महावीरप्रसाद द्विवेदी के समकक्ष दिखायी देते हैं। यह उनकी शैली का तीसरा स्वरूप है।

रामनरेश त्रिपाठी की सबसे बड़ी विशेषता उनकी हिन्दी सेवा की लगन है। उनकी बहुज्ञता पग पग पर उनका सहारा देती है।

अभ्युदय के एक समय के सम्पादक कृष्णकान्त मालवीय अपनी एक विशेष प्रकार की शैली रखते हैं। उनकी शैली में उनकी शैली प्रतीकात्मक लक्षणता तो है। परन्तु उसमें किसी प्रकार की 'ठमक' या 'भड़भड़ाहट' नहीं है

कृष्णकान्त मालवीय

वह एक ही प्रभाकर की मीठी-मीठी गति से स्वभाविक रूप से बढ़ती है। उसमें प्रखरता नहीं है। चकाचौंध नहीं है। प्रयोगों का खुरखुरापन नहीं है। उसमें उर्दू की गति-सम्पन्न संजीदगी है। कृष्णकान्त

अपनी शैली को अलङ्कारिक बनाने के लिए अथवा तत्सम स्वरूपों से लदी हुई साहित्यिक बनाने के लिए कभी प्रयास नहीं करते। यही उनकी केवलता है।

कदाचित इसे वे दोष समझते हैं; परन्तु गति में चिकनाहट देने के लिए, भाषा को सर्व-सुबोध बनाने के लिए, मुहावरों का प्रयोग करने के लिए, वे अपनी लेखनी को सम्हाल कर अवश्य चलाते हैं। इसी से उसका रूप निखरा हुआ दिखायी देता है। उनकी शैली पकी हुई, अधिकतर, सर्वत्र एकसी है। उर्दू के प्रयोग, फ़ारसी के मुहावरे, अँगरेज़ी के शब्द, वाक्य तथा अवतरणों के प्रयोग, उनकी कृतियों में फैले हुए दिखायी देते हैं। विज्ञ लेखक का सर्वसुबोधता की ओर अधिक ध्यान है। एक कुशल पत्रकार को उचित भी यही है। इनके लेख गणेशशङ्कर के लेखों की तरह चाहे किसी को तिलमिलाकर उत्तेजित न कर सकें, परन्तु उनकी प्रभावात्मकता में कोई कमी नहीं है। मीठी होती हुई भी उनकी भाषा में व्यङ्ग की दर्शन-शक्ति है। आलोचना-विधान में, यद्यपि इनकी शैली कोई विशेष परिपाटी की ओर नहीं झुकती, तो भी संकेतात्मकता का प्रयोग अधिक रहता है। 'सुहागरात' का एक अवतरण देखिये:—

कृष्णकान्त मालवीय

"विवाह एक विचित्र प्रथा है। इसके होते ही अपने पराये और पराये अपने हो जाते हैं। दूसरों की मुहब्बत अपनों से अधिक हो जाती है और विवाह अगर सुखकर सिद्ध हुआ है तो दूसरों के लिए

कभी कभी अपने और अपनों के सुख ताक़ पर रख दिये जाते हैं। "ब्याही बेटी पड़ोसिन दाख़िल" की कहावत झूठ नहीं है।"

इस अवतरण में उर्दू के शब्द भी हैं और कहावत भी। समीक्षा विश्लेषणात्मक है, दार्शनिक नहीं।

चरित्र-चित्रण करने के दो विधान देखने में आते हैं। कुछ लेखक तो पुराने ढङ्ग का वर्णनात्मक चरित्र-चित्रण उपस्थित करते हैं और कुछ लोग नये ढङ्ग के निष्कर्षात्मक चित्रण का आश्रय लेते हैं। जैसा जो हो वैसा उसे वर्णन कर देना पहली कोटि का चित्रण है और जैसा, जो हो वैसे उसके कारनामे अङ्कित कर देना दूसरे प्रकार का चरित्र- चित्रण है। कृष्णकान्त अधिकांश में पहले प्रकार का वर्णन उपस्थित करते हैं। एक उदाहरण देखिये: —

"प्रेम! जब तुम शुरू में मुझसे मिलते थे, तुम नीरस, कल्पना-विहीन और गद्यात्मक अधिक थे। तुममें कविता का नाम न था। तुम बहुत ही भौंडे और तनिक तनकि सी बातों में भूल करनेवाले मनुष्य थे और मुझको भय है कि धीरे धीरे तुमने अपनी पुरानी रविश न अख़्त्यार कर ली हो। इसीलिए मैं फिर दोहराती हूँ कि तुम नीरस, कल्पनाविहीन और गद्यात्मक बहुत थे। तुम तारीफ़ करना, स्तुत्य-वाक्य कहना, बढ़ावा देना, चाटुकारिता, ख़ुशामद करना, बातें बनाना-जानते ही न थे या जानते थे तो बहुत मुश्किल से करते थे; किन्तु तुमको यह जान लेना चाहिए कि प्रशंसा, ख़ुशामद और बढ़ावा स्त्री के लिए वैसा ही आवश्यक है जैसे कि जीवन के लिए श्वास; और अगर तुम सफल नायक बनाना चाहते हो तो यह याद कर लो कि प्रशंसा, बढ़ावा और ख़ुशामद स्त्री-जीवन के सर्वश्रेष्ठ (Incentive and Inspiration) प्रोत्साहन और प्रेरक हैं।"

इस विषय में भी लेखक ने अपनी ही शैली का प्रयोग किया है। अन्तिम वाक्य में 'प्रोत्साहक' और 'प्रेरक' को अधिक स्पष्ट करने के लिए अँगरेज़ी शब्दों को भी लिख दिया गया है। वास्तव में कृष्णकान्त

मालवीय अङ्गरेजी विद्वान होने के कारण अपनी विचारधारा को व्यक्त करने के पहले उसे अङ्गरेजी ही में क्रमबद्ध करने के आदी हैं। इसीसे रूपान्तर करते समय हिन्दी की शब्द-शक्ति पर उनका भरोसा अक्षुण्ण नहीं रहता और वे अङ्गरेजी शब्दों को रखकर अपनी बातों को अङ्गरेजी व्यञ्जना-शक्ति के वेग से स्फूर्ति देना चाहते हैं। यह विलक्षण चाल बहुत से अङ्गरेजी पढ़े-लिखे हिन्दी लेखकों में पायी जाती थी। अब इसका धीरे धीरे परित्याग हो रहा है।

नीचे के अवतरण में कृष्णकान्त की सम्भाषण प्रणाली का आलेख उद्धृत किया जाता है :—

"मेरी प्रार्थना सुन और कम से कम अपने से अधिक सांसारिक बातों में मुझको चतुर समझ, तुम बिना तनिक भी सोचे हुए, जैसे बैठे हो वैसे ही उठकर, उसके पास जाओ और उसे लिवा लाओ। विश्वास रखो अगर वह स्त्री है, मानवी है, दानवी या राक्षसी नहीं, तो वहाँ वह कोई झगड़ा नहीं करेगी और हँसते हुए तुम्हारे साथ समान पूर्वक चली आवेगी। रात्रि अधिक हो गयी है, पंडित जी बार बार करवट बदलने पूँछ रहे हैं, आज किसका जन्मपत्र तैयार हो रहा है अब मैं सोने जाती हूँ, सुबह होते ही मेरा आदमी यह पत्र तुम्हारे पास पहुँचा देगा। कल ही नहीं, परसों या नरसों दूसरा पत्र तुमको इसी सम्बन्ध में फिर लिखूंगी तब तुमको बतलाऊँगी कि तुम्हारे में क्या त्रुटियाँ हैं, जिनके कारण ऐसी घटनाओं का घटना सम्भव हुआ। बस अब नमस्कार, निरुपमा को कल ख़ुद जाकर पहले लिवा लाना। इसमें भूल न हो, नहीं तो फिर तुमको कभी कुछ नहीं लिखूंगी।"

इस शैली में 'रत' करने की क्षमता का थोड़ा बहुत अभाव है। यदि थोड़ी भावुकता और आ जाती और उसकी सुखद आवृत्ति होती तो प्रभाव अधिक बढ़ जाता।

अगले पृष्ट पर कृष्णकान्त मालवीय की प्रसिद्ध पुस्तक 'सिंहगढ़

विजय' का एक अवतरण दिया जाता है। इसमें मनोभावों का आत्म-निदर्शनात्मक विश्लेषण है।

कमलकुमारी को देखकर उदयभानु के पाषाण-हृदय को भी अत्यन्त खेद हुआ। "क्या मेरे भय से ही तो इसकी यह दशा नहीं हुई ?" इस बात का विचार चुपचाप खड़ा खड़ा वह कुछ देर तक करता रहा। कमलकुमारी की दशा इतनी अधिक शोचनीय हो गयी थी कि उसके शरीर में अस्थि-पञ्जर मात्र रह गया था। उसका सौन्दर्य इतना फीका पड़ गया था कि उसके समान निस्तेज और शायद ही कोई इस संसार में हो। ऐसी दशा देखकर उसने सोचा कि यदि मैं इसके साथ कठोरता का व्यवहार करना छोड़ दूँ तो सम्भव है इसके शरीर में फिर बल आ जाय और यह जीवित बनी रहे, नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि यह रास्ते में ही मर जाय।

उसे इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया कि यदि कुछ दिनों तक इसकी यही दशा रही तो यह अवश्य मृत्यु के गाल में चली जायगी। अतएव उसने देवलदेवी से स्पष्ट कहा कि "मैं आज से तुम लोगों के साथ किसी प्रकार की बातचीत अथवा छेड़छाड़ न करूंगा। इतना ही नहीं, वरन, माघ कृष्ण नवमी के दिन केवल कमलकुमारी से एक बार निवेदन करूँगा कि तुम मेरे साथ विवाह करने को राजी हो अथवा नहीं ? यदि उसने कहा कि 'नहीं' तो फिर मैं बिना यह पूछे हुए कि 'क्यों नहीं' उसे तुरन्त राजपूताने वापिस भेज दूँगा। परन्तु तुम उसकी अच्छी तरह खबरदारी रखो। सूख सूखकर मरना अच्छा नहीं। मैं अब उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखूँगा। मैंने उसको अब तक छोड़ दिया होता, परन्तु मेरी आशा नहीं छूटती।" यह कहकर तुरन्त वहाँ से चला गया"।

ध्यान से देखने से पता चलता है कि इस रसात्मक आत्म-ग्लानिमय मनोभाव के चित्र में आकर्षण है। इस परिस्थिति में उर्दू शब्दों का कम प्रयोग है। शैली में स्वाभाविक वर्णनात्मक विधि

का ही ढर्रा दिखायी देता है। आगे के अवतरण को देखिये:—

"बच्चों के सम्बन्ध में एक बात और कह देना चाहता हूँ और वह यह है कि यह समझना कि बच्चा बहुत छोटा है, कुछ समझ नहीं सकता, बिलकुल ग़लत है। कोई भी बच्चा, कितना ही बच्चा क्यों न हो, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ आदर्श को समझ लेने के लिए छोटा नहीं हुआ करता। बड़ा से बड़ा आदर्श बच्चे के सामने रखा जा सकता है और उसके अनुसरण के लिए वह प्रोत्साहित किया जा सकता है, केवल अगर आदर्श उस रूप में उसके सामने उपस्थित किया जाय जिसे वह समझ सकता है। यह नियम कपड़े से लेकर जीवन के श्रेष्ठ से श्रेष्ठ नियम के सम्बन्ध में एक समान ही लागू है।

"एक बच्चे को खेलने को साफ़ सुथरा अच्छा कपड़ा पहना हुआ गुड़ा दिया जाय और उसे यह बराबर समझाया जाता रहे कि उसके कपड़े को वह गन्दा न करे और गन्दा होते ही उसका कपड़ा बदल दिया जाया करे तो कुछ ही समय में बच्चा उसी तरह से साफ़ सुथरे कपड़े पहनने की इच्छा करने लगेगा और धीरे-धीरे गन्दे कपड़ों और गन्दगी से उसे घृणा हो जायगी।" माता पिता को यह भी सदा ध्यान में रखना चाहिए कि वे कम से कम उसके सामने सदा उसी तरह से उठें बैठें और आचरण करें जिस तरह कि बच्चे को आचरण करते वह सदा देखना चाहते हैं। इन बातों (Example is better than precept) शिक्षा की अपेक्षा उसी के अनुसार आचरण करना अधिक फलप्रद होता है और मैं आशा करती हूँ कि तुम लोग इस ओर सदा ध्यान रखोगे।"

यह शैली पूर्ण रूप से प्रज्ञात्मक है। महावीरप्रसाद द्विवेदी की शैली का पूर्ण स्वरूप है। छोटे बड़े वाक्य, सुलझी हुई बातें, हिन्दी, उर्दू, अँग्रेज़ी के स्फूर्तिप्रद शब्द यह इसकी विशेषता है। कृष्णकान्त मालवीय हिन्दी के एक कीर्ति-सम्पन्न लेखक हैं।

चतुरसेन शास्त्री उर्दू के भी अच्छे विद्वान हैं और हिन्दी के भी। उनकी ऐसी पकी हुई शैली बहुत कम लेखकों की है। उसके कई स्वरूप दिखायी देते हैं। उनके इतिवृत्तात्मक

चतुरसेन शास्त्री

वर्णन का एक प्रभावपूर्ण स्थल देखिये :—

"यह युवक और युवती से, सागरा पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट् ,मगध-गति प्रियदर्शी अशोक के पुत्र, महाभट्टारक पादीय, महाकुमार महेन्द्र और महाराज-कुमारी संघमित्र थे और उनके साथी बौद्ध-भिक्षु। ये दोनों धर्मात्मा, त्यागी, राजसन्तति, आचार्य उपगुप्त की इच्छा से, सुदूर सागरवर्ती सिंहलद्वीप में, भिक्षुवृत्ति ग्रहण कर, बौद्ध-धर्म का प्रचार करने जा रहे थे। महाराज-कुमारी के दक्षिण हाथ में बोधि-वृक्ष की टहनी थी।"

लम्बे लम्बे वाक्यों में सुखद औत्सुक्य कैसा धीमी चाल से चलता है। इस शैली में न श्यामसुन्दरदास का बोझीलापन है और न जी. पी. श्रीवास्तव का छिछलापन। उपयुक्त शब्दों का अबाध गति से निकलना, उनकी शैली की एक विशेषता है। उसमें लम्बाई है परन्तु उलझाव की लपेट नहीं है।

वस्तु-वर्णन में शास्त्री जी की दृष्टि कितनी पैनी है और व्यापक है। दूसरा उदाहरण देखिये:—

"मोती महल के एक कमरे में शमादान जल रहा था और उसकी खुली खिड़की के पास बैठी सलीमा रात का सौन्दर्य निहार रही थी। खुले हुए बाल उसकी फ़ीरोज़ी रङ्ग की ओढ़नी पर खेल रहे थे। चिकन के काम से सजी और मोतियों से गुथी हुई उस फ़ीरोज़ी रङ्ग की ओढ़नी पर कसी हुई कमख़ाब की कुरती और पन्नों की कमर पेटी पर, अँगूर के बराबर बड़े मोतियों की माला झूम रही थी। सलीमा का रङ्ग भी मोती के समान था। उसकी देह की गठन निराली थी। सङ्गमर्मर के समान पैरों

में ज़री के काम के जूते पड़े थे, जिन पर दो हीरे धक्-धक् चमक रहे थे।"

ऊपर का वर्णन कैसा कसा हुआ है। 'उर्दू' शब्दों की गाँठों ने वाक्यों की कसमसाहट और बढ़ा दी है। मुसलमानी महल और मुसलमानी रमणी का सम्पूर्ण चित्र खिँच जाता है। 'सङ्गमरमर के समान पैर' हिन्दी के लिए नयी उपमा है, जिसकी उद्भावना, रूपसादृश्य पर अवलम्बित है, भावसादृश्य पर नहीं। 'धक्-धक् चमक रहे हैं' यह प्रयोग प्रान्तीय है। अत्यन्त स्पष्ट करने की धुन में लेखक ने इसका आश्रय लिया है। और भी कई स्थलों पर इसी प्रकार के स्वाभाविक प्रयोग मिलेंगे जिनके कारण शैली का प्रवाह अवश्य बढ़ गया है परन्तु साहित्यिक एकङ्गापन आ गया है।

सम्वादों का प्रयोग कौशिक जी का अद्वितीय होता है। परन्तु चतुरसेन शास्त्री के सम्वादों में भी गति अच्छी होती है। हाँ, उनमें कौशिक जी की व्यञ्जात्मकता का अभाव रहता है। नीचे एक उदाहरण उनकी एक कहानी से दिया जाता है :—

सलीम ने क्रोध से कहा—"तुम लोग यहाँ क्यों हो ?"

"बादशाह के हुक्म से।"

"क्या बादशाह आ गये ?"

"जी हाँ।"

"मुझे इत्तला क्यों नहीं की ?"

"हुक्म नहीं था।"

"बादशाह कहाँ हैं ?"

"ज़ीनत महल के दौलतख़ाने में।"

× × ×

सलीमा के मन में अभिमान हुआ। उसने कहा—ठीक है, ख़ूबसूरती के हाट में जिनका कारबार है, वे मुहब्बत को क्या समझेंगे ? तो अब ज़ीनत महल की क़िस्मत खुली ?"

तातारी स्त्री चुपचाह खड़ी रही। सलीमा बोली—"मेरी साक़ी कहाँ है ?"

"क़ैद में !"

"क्यों ?"

"जहाँपनाह का हुक्म।"

"उसका क़सूर क्या था ?"

"मैं अर्ज़ नहीं कर सकती।"

"क़ैदख़ाने की चाभी मुझे दे मैं उसे छुड़ाती हूँ।"

"आपको अपने कमरे से बाहर जाने का हुक्म नहीं है।"

"तब क्या मैं भी क़ैद हूँ ?"

"जी हाँ।"

इस कथोपकथन में नाटकीय फ़ुर्तीलापन तो है ही, पर भाषा-सौष्ठव भी है। गहराई के अभाव को पद-सरसता ने पूरा कर दिया है।

शास्त्री जी के भावात्मक प्रसङ्गों में रुला देने की क्षमता होती है। इनकी शैली छोटे-छोटे वाक्यों का आश्रय लेकर आगे बढ़ती है। वह वर्णात्मक स्वरूप में रसात्मक प्राण की प्रतिष्ठा करती है। नीचे एक छोटा सा टुकड़ा उनकी इस शैली के उदाहरण में उपस्थित किया जाता है। वह पूर्ण रूप से भावात्मक तो नहीं है परन्तु उसमें वर्णन-वृत्ति और रागवृत्ति का समन्वय है :—

"वह फिर एक बार मिला। सन्ध्या काल था और गङ्गा चुपचाप बह रही थीं। वह चाँद सी रेती में फूल जमा जमा कर कुछ सजा रहा था। मैं कुछ दूर था। मैंने कहा—"आ मेरे पास आ"। मैं गया। वहाँ की हवा सुगन्धों से भर रही थी। मैं कुछ ठण्ढा सा होने लगा। उसके चेहरे पर कुछ किरणें चमक रहीं थीं। मैंने कहा—"बिटुआ ! धूप में ज़्यादा मत बोलो"। उसने हँस दिया। सुन्दरता लहरा उठी। उसने एक फूल दिखा कर कहा—"अच्छा, इस फूल का क्या रङ्ग है ?" मेरा रक्त नाच उठा। अरे, बेटा बोलना सीख गया ? मैंने लपक कर

फूल उसके हाथ से लेना चाहा—वह दूर दौड़ गया। उसने कहा—"ना इसे छूना नहीं। इस फूल को दुनिया की हवा नहीं लगी है और न इसकी गन्ध इसमें से बाहर को उड़ी है। ये देव पूजा के फूल हैं—ये विलास की सजाई में काम न आवेंगे।"

इतना कहकर बिटुवा गङ्गा की ओर दौड़कर उसी में खो गया। हैं कुछ दौड़ा तो—पर पानी से डर गया। इतने में आँखें खुल गयीं।"

जिस समय शास्त्री जी विवेचनात्मक विषय में प्रवेश करते हैं उनकी शैली में भी गम्भीरता आ जाती है। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है :—

"साहित्य की मूल भित्ति है हृदय और उसके निकास के प्रपात का स्थल है मस्तिष्क। हृदय में आन्दोलन उत्पन्न करके मस्तिष्क की सूक्ष्म-विचार-धाराओं का सञ्चालन करना साहित्य का कार्य है। यही तो मानव जीवन-उत्कर्ष है—पशु और मनुष्य में यही तो अन्तर है। पशु साधारण शरीर की आवश्यकताओं का अनुभव करके जीवन की सभी चेष्टाएँ करता है। परन्तु मनुष्य मस्तिष्क की विचार-धाराओं से आन्दोलित होकर जीवन की उन प्रक्रियाओं को भी करता है, जिनसे वास्तव में उनकी शरीर-सम्पत्ति का कोई वास्ता ही नहीं है। इसीलिए किसी भी जाति या समाज का साहित्य देखकर हम स्थूलता से इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि वास्तव में वह जाति मनुष्यत्व की कसौटी है। और केवल कसौटी ही नहीं, वह जाति के उत्थान और पतन का एक कारण भी है। साहित्य जातियों को वीर बनाता है; साहित्य ही जातियों को क्रूर, नीच, कमीना, पापी, पतित बनाता है। इसलिए प्रत्येक जाति के विद्वानों के ऊपर इस बात का नैतिक भार है कि अपने साहित्य पर कठोर नियन्त्रण क़ायम रखें। उसे जीवन से भी उच्च, पवित्र एवम् आदर्श बनाये रक्खें।"

इस शैली में रायबहादुर श्यामसुन्दर दास की शैली की पूर्ण छाप

है। विवेचन सीधा और सुलझा हुआ है। वाक्यों के प्रवाह में गम्भीरता की ठसक है।

यह सब होने पर भी चतुरसेन शास्त्री का एक दूसरा रूप भी है। कभी कभी वे ओछे और अभद्र विषयों पर भी लेखनी घिसने लगते हैं। उस समय उनकी शैली में भी जी. पी. श्रीवास्तव का छिछला बाज़ारूपन दिखायी देने लगता है। परन्तु यह तभी होता है जब वे प्रतिपाद्य वस्तु के कारण बहुत नीचे उतर आते हैं और यथार्थवाद का भूत उनके सिर पर सवार हो जाता है। रूपान्तर करने में अथवा किसी चीज़ को अपना लेने में भी चतुरसेन बड़े पटु हैं।

जी. पी. श्रीवास्तव

जी. पी. श्रीवास्तव की कोई निजी शैली नहीं है। इनकी चरचा केवल इसलिए की गयी है कि लोग हास्यरस का वास्तविक स्वरूप समझ लें। इन्हें हास्यरस का 'आचार्य' कहना हास्यरस के सम्बन्ध में नासमझी का परिचय देना है। जितने रस हैं सब में 'हास्यरस' की निष्पत्ति कलाकार के लिए सब से अधिक कठिन है। ऐसे महापुरुषों की संख्या इस संसार में बहुत कम है जिनका स्थायी स्वरूप हास्यरस हो सका है। इस का विश्लेषण रसको उत्पन्न नहीं करता। रस को उपस्थिति की घोषणा रस को भगा देती है। रस स्वतः अभिव्यञ्जना के स्पर्श से रसिक मन में जाग्रत होता है। सहित्य के अन्तर्गत स्वीकृत रस की उत्पति का अर्थ केवल भाषा से जगायी हुई रस की उद्दीप्ति से है। वाह्य स्वरूपों के पर्य्यवेक्षण से उत्पन्न, रससे नहीं हैं। अभिप्राय यह है कि मन, भाषा की अभिव्यञ्जना से जो रसात्मकता अनुभव करता, साहित्य सम्बन्धी रस का उसी से अभिप्राय है; क्योंकि इसी की उपस्थिति साहित्य में रक्षित रखी जा सकती है।

'हास्यरस' का स्वरूप इतना सुग्राह्य नहीं। किसी का बेढङ्गा स्वरूप चित्रित करने में आयँ बायँ शाँय बक जाना हास्य रस नहीं है। शिष्टों का मनोरञ्जन ही उच्चकोटि के हास्यरस का ध्येय होना चाहिए।

छोकड़ों को हँसाने के लिए, बिगड़े नवयुवकों को प्रसन्न करने के लिए, निम्न वासना को तिलमिला देने के लिए, जो हास्य उत्पन्न किया जाता है वह निम्न कोटि का कहलाता है। श्रीवास्तव जी ने 'लम्बी डाढ़ी' में एक मास्टर का खाक़ा खींचा है। उसे देखियेः—

"मास्टर साहब ने इंन्स्पेक्टर साहब से मिलने की तैयारी में बहुत से शेक्सपियर के कोटेशन रट लिये। जिससे बातों में झट ल्याक़त टपका दें। वह भी जाने हाँ कोई अँगरेज़ी जानता है। मोछों पर ख़िज़ाब लगा, घड़े से धराऊ अचकन निकाली, जो मारे शिकन के अब कमर तक रह गयी थी। गले में रूमाल बाँधा, तोंद पर इत्र लगाया। आँखों में सुरमा किया। मुंह में गिलौरियाँ ठूँसीं। हाते के बाहर शागिर्द पेशे के पास तीन घण्टे तक खानसामा की ख़ुशामद करते रहे। कमर से एक रुपया भी निकाल कर नज़र किया। मगर वह बार बार यही कहता जाता था कि साहब आज 'नौट ऐट होम (Not at home) हैं। "नहीं मिल सकते"। बेचारे बहुत गिड़-गिड़ाये हाथ जोड़ कर कहा कि "खाँ साहब! मैं तो आपका तावेदार हूँ। महरबानी कीजिये। सच कहता हूँ एक ही रुपया भेंट पास था, और होता तो मैं ज़रूर देता। किसी तरकीब से साहब से मिला दीजिये। अब तो हम आपकी डेवढ़ी पर खड़े हैं।"

इस अवरतण में अंग्रेज़ी और उर्दू शब्दों का ज्यों का त्यों प्रयोग, जहाँ एक ओर प्रवाह और सर्व-सुबोधता उत्पन्न करके शैली को साधारण बोल-चाल की भाषा के निकट ले जाता है, वहाँ छिछलेपन और बाज़ारूपन आजाने के कारण एक ओछी अभद्रता भी उत्पन्न कर देता है। यह चित्रण वस्तु-स्थिति पर अङ्कित न होने के कारण, हास्यरस उत्पन्न करने के स्थान पर, लेखक के बालिष्य पर हँसी अवश्य उत्पन्न कर देता है।

हास्य की प्रत्येक अच्छी उक्ति के भीतर एक व्यंग झाँका करता है। ऊपर के अवतरण में कदाचित् 'मास्टर' वर्ग के स्वरूप

का निरूपण वाँछित था, परन्तु वर्णन की ठोस व्यक्तता ने व्यंग की सङ्केतात्मकता को नष्ट कर दिया है। श्रीवास्तव के 'भड़ामसिंह शर्मा' से एक स्थल नीचे दिया जाता है। इसमें कदाचित् उनकी सारी कृतियों में सबसे अधिक व्यंग स्पष्ट लक्षित होता है।

"अब रही लेखकों की फ़िक्र। वह बेकार और फ़िजूल है। जहाँ चाहिए, टके पसेरी लेखक और थाने में बीस कोड़ी कवि ले लीजिये। जिस सिन का चाहिए। ताज़े और बचकानों के आगे पुराने और सैकण्ड-हैण्डों की मिट्टी पलीद है। और आपकी दुआ से सभी फ़र्स्ट क्लास! क्योंकि आजकल तो काबिलियत और लियाक़त सिर्फ़ मुशकिल लफ़्ज़ों के इस्तेमाल में घुसी है, और खड़ी बोली की बेतुकी कविताओं में! और अगर कहीं उसमें शिक्षा की दुम लगी हुई है तो हमारे सम्पादक पकौड़ीलाल अपनी खोपड़ी पर प्रकाशित करेंगे; क्योंकि हिन्दी में बिना इस दुम के कोई लेख ही नहीं गिना जाता; लाख भावनाओं से शराबोर लेख लिखिये; क़ाग़ज़ पर कलेजा तक निकाल के रख दीजिये। भाषा की खानी में पानी के बहाव को मात कर दीजिये। चरित्रों के खींचने में वह सफ़ाई दिखलाइये कि सिर्फ़ बोली ही सुनकर दिन में उल्लू भी पहचान ले कि यह तो नख़रों से कूट कूट कर भरी हुई, प्रेम में पगी हुई, पति की बावली, नयी नवेली अलबेली है। मगर जो कहीं हमारे सम्पादक जी को टटोलने से भी इसमें वह दुम न मिली, बस लेख बैरङ्ग वापस। "Art for art sake" की हिन्दी में यह क़दर है।

वाह बीबी नसीहत! art की छाती पर चढ़ी हुई तुमने अच्छी धाँधली मचा रखी है! लेखकों से अपने आप को पुजवाती हो। उनके लेखों को तौलने के लिए तराज़ू और बट्टा बनी हो। घबड़ाओ नहीं। मैं आ गया। लेख छपे या न छपे, परवा नहीं। क़दर के बदले अभी गालियाँ ही सही; मगर तेरी ख़ैरियत नहीं है। क़लम के चाबुक से मैं तेरी सूरत बिगाड़ दूँगा। Art से रौंदवा डालूँगा। लेखों के पर्दों में

छिपा दूँगा। दरवाज़े पर Art का पहरा बैठा दूँगा। बस, हो चुक बेशर्म, हो चुका ! दरवाज़ों पर बहुत शोख़ी के साथ टहल चुकी। पाठकों से खुल्लम खुल्ला बातें कर चुकी। चल अन्दर चल, मैं किसी मुर्दे-दिल सम्पादक को ख़ुश करने के लिए तेरी ख़ुशामद न करूँगा। तुझे लाख बार ग़रज होगी तो तू खुद पैरों गिरेगी और लेखों के पर्दे में रहेगी। वहाँ तेरी हवाखोरी के लिए खिड़कियाँ काफ़ी हैं।.........लीजिये, दुम ग़ायब हो गयी। झगड़ा ख़तम हुआ। सम्पादक जी का पकड़ने का हथियार छिन ही गया आख़िर ! हिप ! हिप !! हुर्रे !!!"

इस शैली की ख़ानी में छिछलेपन के कारण, बालकों का मखौल कहीं-कहीं पर दिखायी देता है। 'घाते में बीस कौड़ी कवि' 'बचकाने' 'सेकेंडहैण्ड' इत्यादि शब्द जिस सन्दर्भ में प्रयुक्त है, हास्य रस उत्पन्न नहीं करते केवल शैली का बाज़ारूपन प्रकट करते हैं। जिस व्यङ्ग का स्वरूप स्थिर करने के लिए यह स्थल लेखक ने लिखा है वह शैली की उछल-कूद, में शब्दों की भड़भड़ाहट में, लापता हो जाता है। नीचे लम्बी दाढ़ी का एक स्थल देखिये—

"अहाहा ! छम छम छम ! ऐलफ्रेड कम्पनी का पर्दा उठा। एग्जिभिशन का टावर जगमगा उठा। बिजलियों के एकबारगी त्वारे छूटे। आँखों में चकाचौंध छा गयी। हृदयों पर बज्र गिरा। कोई इधर छम से निकली। कोई उधर चमक के हो रही। कोई इस तरफ़ अठखेलियाँ करती हुई चली। कोई उस तरफ़ बल खाती हुई बढ़ी। कोई नख़रे से झिझक गयी। कोई मुस्कुरा के पलट गयी। हाय ! हाय ! इन दो आँखों से कोई क्या देखे। एक दिल किसके हवाले करे। नज़र ठहरे तब तो कम्बख़्त बिछलती फिरती है। अरे दिल ! अरे दिल ! ज़रा सँभल ! हाय ! तेरा बुरा हो, वह लेके भागी। उसकी लोच ने उससे छीना। उसकी शोख़ी उससे भी ले उड़ी। दिल क्या फ़ुटबाल हो गया ! मगर पञ्चर बेगिन्ती ! उसकी चाल अच्छी है। उसके लहराते हुए बाल बेसुध किये देते हैं। यह रसीली है, तो वह कटीली है। यह बात बात में

मुस्कराती है तो वह बात बात में लजाती है। एक क्लोरोफ़ार्म की शीशी है, तो वह दूसरी ब्रांडी का घूँट। उफ़! यह झाड़-फ़ानूस की रोशनी तो और भी ग़ज़ब ढा रही है। यह सीन और नयी जवानी के दिन। खैरसल्लाह सब ईश्वर के हाथ में है।"

क्या इसी का नाम हास्य-रस है? यह तो निरे शोहदापन और लुच्चापन के भाव अङ्कित है। अपनी कामुक भावनाओं का नङ्गा चित्र खींच देना वास्तविकता के नाम पर कला के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। यदि यही साहित्य होता तो पुस्तकें लिखने की आवश्यकता न होती। मृतक के कुटुम्बियों के रोने में; 'करुणरस' कूड़ेखाने में; 'वीभत्सरस' चलती हुई तलवारों में; 'वीररस' गुट्टबाजी बनाकर लड़नेवाले बालकों में 'रौद्ररस' तथा पतिपत्नी की फुसफुसाहट में 'श्रृङ्गार रस' बहुत मिल सकता था। परन्तु इन परिस्थितियों को साहित्य में कुछ हेर-फेर के साथ स्वीकार किया जाता है। वही हेर-फेर करनेवाली वस्तु कला है। वस्तु का शैली पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। गुण्डपने के भावों ने शैली की तेजी में नशीलापन भर दिया है। उसमें मस्ती नहीं है। उसमें इठलाने की प्रवृत्ति है। इसी प्रकार का एक और उदाहरण देखिये:—

"लखनऊ में रह कर जिसने अपनी जवानी में हुसैनाबाद के दोनों इमामबाड़ों को मुहर्रम की आठवीं तारीख़ को न देखा उसने फिर हुसैनाबाद को क्या देखा? बड़ा फ़ैशनेबिल जमाकड़ा होता है। क्योंकि न तो उस रोज़ कोई गँवार और न कोई ग़ैरे-ग़ैरे आने पाते हैं, और वह सूरतें देखने में आती हैं कि ईश्वर की कारीगरी पर एकबारगी वाह वाह की ध्वनि निकल पड़ती है, अँगरेजों की वजह से उस दिन ख़ास सफ़ाई रहती है। सिवाय योरेशियन और योरोपियन के और लोगों का वहाँ गुज़र बिना पास के नहीं हो सकता। और पास सिर्फ़ शहर की जैन्ट्री को मिलता है। आठवीं तारीख़ को मिलता है। आठवीं तारीख़ को भूल भुलैय्यों के हाल में, इन्द्र के अखाड़े का, क़ाफ़ के परिस्तान का, और क्रिसमस के दिनों में इलाहाबाद के एग्ज़िभिशन का पूर्ण मज़ा आ जाता

है। एक से एक फ़ैशनेबिल जैन्टिलमैन और लेडियाँ शोख़ और कमसिन मिसें, कालिज की लड़कियाँ, सजीली-भड़कीली पारसिनें, मोटरकार, लैन्डो और लेडीज़ बग्घियों पर सनसनाती हुई आती हैं।"

इस स्थल में भी छिछोरपने की दुर्गन्ध आती है। लेखक की लेखनी की नोक पर जो शब्द, जो वाक्य, जो भाव, जो विचार आते हैं वह उन्हें उँड़ेलता चला जाता है। प्रभ विष्णुता की ओर उसका ध्यान नहीं है। उनकी अभिव्यक्ति में छिछलापन है। वह न तो अपने विषय में ही प्रवेश करने की शक्ति रखती है और न पढ़नेवाले के हृदय पर ही गम्भीर आघात करती है।

बेचनशर्मा 'उग्र' की शैली भी श्रीवास्तव की शैली से मिलती-जुलती है और वस्तुनिर्देश में भी कुछ साम्य है। परन्तु जितनी पैठ उग्र की है उतनी श्रीवास्तव की नहीं। अधिकतर अश्लील होने के कारण श्रीवास्तव की पुस्तकें आदर नहीं पा सकतीं।

अश्लीलता के सम्बन्ध में सभापति की स्थिति से स्वयं श्रीवास्तव क्या कहते हैं:—

"अश्लीलता कहाँ होती है; वह भी मुँहफट होने के कारण। मैं साफ़ बताये देता हूँ—पलङ्ग, टट्टीघर या गुसलख़ाने में। बस इन स्थानों को छोड़कर लेखनी को हर जगह जाने का पूर्ण अधिकार है। अश्लीलता या वासना के नाम पर इसकी रोक-टोक करना साहित्य में ज्ञान और तत्व का द्वार बन्द करना है, मनोविज्ञान का गला घोटना है, प्रकृति और स्वाभाविकता का कलेजा मसलना है, कला के पैरों में बेड़ियाँ डालना है, जाति को मुर्दा बनाना है, और सबसे बड़ी बात यह है कि अपनी पूज्य देवियों के चरित्र-बल में कलङ्क लगाना है। आप लोग भी कहते होंगे कि किस बक्की से पाला पड़ गया। कविता में अपनी अयोग्यता दिखाने की आड़ में यह 'हास्य-रस' की सारी कहानी सुना गया।"

इससे यह स्पष्ट है कि अश्लीलता का वास्तविक स्वरूप लेखक नहीं समझता। वह उस पतली मेड़ को पहचानने में सर्वथा अनुपयुक्त है,

जिसके एक ओर अश्लीलता का गढ़ा है और दूसरी ओर ऊँचा से ऊँचा 'हास्यरस'।

सम्वादों को लेखकों ने हास्यरस की उत्पत्ति का बड़ा साधन माना है। वास्तव में व्युत्पन्न-मति सज्जन मीठी चुटकी के गहरे व्यङ्ग के साथ लोगों को हँसी से विभोर कर सकते हैं। त्वरा बुद्धि का कौशल बहुत प्राचीन काल से 'हास्य-रस' की धारा बहाता आया है। अकबर और बीरबल के चुटकुले 'हास्यरस' के लिए प्रसिद्ध हैं। शिष्ट विनोद के साथ-साथ व्यङ्ग का मर्म छिपाकर हँसी उत्पन्न कर देना, कुशल वाक्-चातुरी का ही कार्य है। नीचे श्रीवास्तव के कथोपकथन का एक स्थल दिया जाता है:—

उपदेशक०—"हाँ हजूर। और—"

मैजिस्ट्रेट०—"जितना हम पूँछें उतना ही जवाब दे। कमबख्त अपना क़िस्सा अपने घर रख। अपनी औरत नाम बता सकते हो ? ज़बान से न सही। लिखकर तो बता सकते हो ?"

उपदेशक०—"श्रीमती चतुर्वेदी भण्डारा देवी"

मैजिस्ट्रेट०—"अबे बेवक़ूफ़ ! यह कौन सा नाम है ?"

उपदेशक०—"यह हमने नाम रखा है, धर्म के नियमों पर।"

मैजिस्ट्रेट०—"अबे गदहे, जो उसके बाप ने नाम रखा है, वह बता।"

उपदेशक०—"वह नहीं मालूम है।"

मैजिस्ट्रेट०—अपनी औरत के बाप का नाम जानते हो कि वह भी नहीं जानते।

उपदेशक०—"वह भी नहीं जानता।"

मैजिस्ट्रेट०—तुम अपनी औरत को दस पाँच औरतों के बीच में पहचान लोगे ?"

उपदेशक०—" नहीं। श्रीमती जी का मुँह——"

मैजिस्ट्रेट०—"चुप। झूठा मुक़दमा चलाने आया है, कम्बख्त !"

सरिश्तेदार०—"इसकी जोरू होती, तब तो यह पहचानता !"

उपदेशक०—"नहीं नहीं, उससे हमारी शादी हुई है। कल ही रात को। वह हमारी स्त्री अवश्य हुई।"

मैजिस्ट्रेट०—"अच्छा, बोल, शादी का सबूत बता। किस पण्डित ने शादी करायी है ?"

उपदेशक०—"पण्डित कोई नहीं था। मैंने ही पण्डित का काम किया था।"

मैजिस्ट्रेट०—"नाई कौन था ?"

उपदेशक०—"कोई नाई नहीं था। मगर——"

मैजिस्ट्रेट०—"चुप। तेरे साथ बरात में कौन-कौन आदमी गये थे ?"

उपदेशक०—"कोई नहीं।"

मैजिस्ट्रेट०—"बाजा वाजा बजा था ?"

उपदेशक०—"मैंने ही खाली शंख बजाया था ?"

मैजिस्ट्रेट०—"नाच गाना हुआ था ?"

उपदेशक०—"अँय ! नाच-गान कराके क्या मैं इस विवाह को अशुद्ध कराता ?"

इस कथोपकथन को ध्यान से पढ़ जाइये। वही बच्चों की, सी बातें। न कोई गुरुता है और न कोई मार्मिकता। सम्वाद में कुछ भी सार नहीं है।

'हास्य रस' का आकर्षण अनुपम होता है। कम पढ़ों को बच्चों को, अशिक्षित महिलाओं को, यह आकर्षण साहित्यानुराग उत्पन्न करने में सहायता दे सकता है। हँसी-हँसी में वे कुछ पढ़ लिख सकते हैं। परन्तु जी. पी. श्रीवास्तव की कृतियाँ न बच्चों के हाथों में दी जा सकती हैं और न स्त्रियों के। अतएव उनका मूल्य बहुत कम है।

बालकृष्ण शर्मा उन साहित्य-कुबेरों में हैं जो अपना सरस्वती-कोष बिखेर देना जानते हैं, उसका उपयोग करना नहीं जानते। यही कारण है कि समीक्षकों की दृष्टि अभी बालकृष्ण शर्मा के ऊपर एक उत्तम गद्य-लेखक के रूप में नहीं पड़ी। उन्हें केवल कवि के ही रूप में जानते हैं और उस रूप में भी उनका उचित परिचय अभी समीक्षकों को स्पष्ट नहीं हुआ है। इसका कारण केवल यह है कि बालकृष्ण शर्मा ने कभी अपनी पद्य या गद्य की कृतियों के सङ्कलन छपाने की ओर ध्यान नहीं दिया। यदि उनकी कहानियों का संग्रह निकल गया होता, यदि उनके जोशीले लेखों का सामूहिक रूप आलोचकों के समक्ष आ गया होता, यदि उनके मर्म-भेदी कोमल भावनाओं से ओत-प्रोत गद्यखण्डों का सङ्कलन हिन्दी संसार के सामने होता तो बालकृष्ण की उपेक्षा करना हिन्दी के इतिहासकार के लिए असम्भव था।

बालकृष्ण शर्मा

शैली ही व्यक्ति का प्रतिरूप है। यह जितना बालकृष्ण के लिए सत्य है उतना कदाचित् ही किसी अन्य लेखक के लिये सत्य होगा। कहीं भी किसी परिस्थिति में उनका वाक्य-समूहों का एक खण्ड बड़े स्पष्ट शब्दों में उनका विज्ञापन करता है। उनकी सारी कृतियों में जो एक लगन है, एक धुन है, एक प्रेरणा है, एक स्थायीभाव है, वही उनकी शैली में केवलता का विधायक है। यह प्रायः सभी लेखकों में देखा गया है कि जब वे कोई तात्विक-तार्किक विवेचन करते हैं तो छोटे-छोटे वाक्यों में प्रज्ञात्मक प्रणाली में, एक के बाद एक चिन्तना का निष्कर्ष सामने रखते चले जाते हैं। वे हृदय से बिलकुल हट कर, बुद्धि के क्षेत्र में ही विचरण करते हैं। उनमें तर्क का रूखापन आ जाता है। यह बात बालकृष्ण में नहीं है। उनके वाक्य चाहे छोटे हों या बड़े, वे रागात्मिकता का दामन नहीं छोड़ते। उनकी विवेचन-प्रणाली में पूरी स्फूर्ति होती है। उसमें हृदय और मस्तिष्क का पूर्ण सोहाग रहता है।

बालकृष्ण शर्मा ने बड़ा सजग क्षिप्रस्पन्दनशील, तथा कोमलतम

स्पर्श से सिहर उठने वाला, हृदय पाया है। संसार की कोई भी हलकी से हलकी ध्वनि, उनको प्रतिध्वनित कर सकती है। अभिप्राय यह है कि बालकृष्ण में कवित्व बड़ा प्रबल है। उनके गद्य लेखों का स्वरूप भी यही कवि सवाँरा करता है।

मनुष्य रागद्वेष का कन्दुक है। जिसकी रागद्वेष भावना जितनी ही परिष्कृत है उतना ही वह ऊँचा है। इस परिष्कार के मूल में भावुक का अभ्यास है। भावुक प्राणी स्वार्थ के और अपनेपने के कटघरे से निकाल कर जब अपने रागद्वेष को समिष्टि की पावन भूमि पर चढ़ा ले जाता है तब उसके पवित्र स्वरूप को पहचानने लगता है। संसार-द्वेषी उसके द्वेष का लक्ष्य और संसार-पूज्य उसके अनुराग की प्रतिमा बन जाता है। बालकृष्ण का सारा साहित्य-स्वरूप रागद्वेष की इस पवित्र प्रेरणा की सृष्टि है और यही उनका व्यक्तित्व भी है।

बालकृष्ण शर्मा

नीचे एक गद्यखण्ड उनके 'पधारो देव' शीर्षक लेख से दिया जाता है। महात्मा गाँधी के प्रति कैसे भावपूर्ण उद्गार हैं।

"आओ, तीस करोड़ जनगणों के अधिकनायक, पधारो। इस अभागे प्रान्त को अपने अकम्पित चरणों की रज से पवित्र करके, यहाँ की जनता में आत्म-विश्वास और स्वावलम्बन का भाव उत्पन्न करने के लिए, आओ। अमृत वाणी से हमारे मृतप्राय हृदयों को नव-जीवन के स्पन्दन से कम्पित करने के लिए, आओ। देव, राम और कृष्ण का क्रीड़ा-क्षेत्र—यह प्रान्त—आज तुम्हारे स्वागत के लिए उत्सुक है।

अपने देवता को रिझाने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। हम निःसाधन हैं, निर्धन हैं, निस्तेज हैं। तुम्हारे तपः पूत हाथों में हम क्या भेंट धरें? हम तो इस योग्य भी नहीं हैं कि तुम्हारी चरण-रज को अपने कलुषित माथे पर रख सकें। यह आत्म-ग्लानि की अनुचित भावना नहीं है, जो हमें ऐसा कहने को विवश कर रही है।"

हिन्द प्रान्त के दौरे में महात्मा जी कानपुर पधारनेवाले थे। उसी स्वागत में यह लेख लिखा गया है। भाषा में कैसी भावमयी है और प्रत्येक वाक्य मानो श्रद्धा के फूल बिखेरता चलता है।

गुणों के दर्शन पर बालकृष्ण शर्मा उत्सर्ग हो जाते हैं। वे स्वयं वेग-सम्पन्न हैं, अतएव सर्वत्र ही वे वेग, साहस और निर्भीकता के पुजारी हैं। उन्हें टिमटिमाते हुए तारों की अपेक्षा, आकाश को एक क्षण के लिए आलोकित करके प्रकाश-पंक्ति विकीर्ण करता हुआ विलीयमान उल्का अधिक पसन्द है। प्रत्येक शौर्य-सम्पन्न व्यक्ति के चरणों में बालकृष्ण नतमस्तक, श्रद्धा की पुष्पाञ्जलि बिखेरने के लिए, प्रस्तुत रहते हैं। उनके 'वे' शीर्षक लेख का एक खण्ड 'प्रताप' से दिया जाता है।

"अनुत्तरदायी? जल्दबाज़! अधीर आदर्शवादी? लुटेरे! डाकू! हत्यारे! अरे ओ दुनियादार! तू उन्हें किस नाम से, किस गाली से, विभूषित करना चाहता है? वे मस्त हैं। वे दीवाने हैं। वे इस दुनिया के नहीं हैं। वे स्वप्नलोक की वीथियों में विचरण करते हैं। उनकी दुनिया में, शासन की कटुता से, माँ धरित्री का दूध अपेय नहीं बनता। उनके कल्पना-लोक में ऊँच-नीच का, धनी-निर्धन का, हिन्दू-मुसलमान का, भेद नहीं है। इसी सम-भावना का प्रचार करने के लिए वे जीते हैं। इसी दुनियाँ में, उसी आदर्श को स्थापित करने के लिए वे, मरते हैं। दुनियाँ की पठित मूर्ख-मण्डली उनको गालियाँ देती है। लेकिन यदि सत्य के प्रचारक गालियों की पर्वाह करते तो शायद दुनिया में आज सत्य, न्याय, स्वातन्त्र्य और आदर्श के उपासकों के वंश में कोई नाम लेवा और पानी देवा भी न रह जाता। लोक-रुचि अथवा

लोक-उक्तियों के अनुसार जो अपना जीवन यापन करते हैं वे अपने पड़ोसियों की प्रशंसा के पात्र भले ही बन जायँ; पर, उनका जीवन औरों के लिए नहीं होता। संसार को जिन्होंने ठोकर मार कर आगे बढ़ाया, वे सभी अपने अपने समय में लांछित हो चुके हैं। दुनिया खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने तथा उपयोग करने की वस्तुओं का व्यापार करती है। पर कुछ दीवाने चिल्लाते फिरते हैं, "सर-फ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।" ऐसे कुशल, किन्तु औघट, व्यापारी भी कहीं देखे हैं? अगर एक बार आप हम उन्हें देख लें तो कृत-कृत्य हो जाँय।"

भक्ति-प्रदर्शन में बालकृष्ण की भाषा बड़ी वेगवती और शक्ति-सम्पन्न हो जाती है। उनकी उर्वरा कल्पना का शक्तिशाली सोपान, भावना को ऊपर उठाने में बड़ा योग देता है।

परन्तु बालकृष्ण जितने कुशल निर्माणक हैं उतने ही, क्रूर संहारक। स्थापना और ध्वंस साथ-साथ उसी वेग से चलते हैं। बुतपरस्ती और बुतशिकनी उनके लिए एक से हैं। 'द्वेश' के प्रदर्शन में वही वेग है जो 'राग' के प्रदर्शन में। जितनी फुरती के साथ बाल-कृष्ण मीठे-मीठे सुगन्धित पुष्पों की झड़ी अपने आराध्य देव पर बाँध देते हैं, उतने ही वेग से तीखे बाणों की वर्षा वे मिथ्या-प्रचारक पर करते हैं। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है:—

"बम्बई से एक चिथड़ा अख़बार निकलने लगा है। यह चिथड़ा मराठी में भी निकलता है और हिन्दी में भी। इस पत्र का एक नियम है। वह यह है कि यह पत्र सदा सर्वदा महात्मा गाँधी को गालियाँ दिया करता है। मैं इस पत्र की बेहूदगियों पर कभी ध्यान नहीं देता। कई बार इसके छिछोरेपन के ऊपर मैंने लिखने का विचार किया। मैंने कभी कुछ नहीं लिखा। अब देखता हूँ कि इस बार फिर इस सड़े गले चिथड़े ने महात्मा जी पर आक्षेप किये हैं। वे नितान्त असभ्यता-पूर्ण, ग़लतफ़हमी फैलानेवाले और अकारण हैं। इस पत्र के सर

पर गाँधी-विद्वेष का भूत सवार है। भूत के उतारने की दवा है 'मिरचे की धूनी और करारा तमाँचा'। सो भाई, आज मैं वही प्रयोग कर रहा हूँ। भूत-व्याधि-ग्रस्त यह पत्र कल का लौंडा है। इसलिए ज़रा मैं सोच-समझ कर ही तमाचे जड़ूँगा,—मुझे यह भी तो ख्याल है न, कि कहीं लड़के के गाल बहुत अधिक सुर्ख़ न हो जायँ।"

यह अवतरण जिस लेख से लिया गया है उसका नाम है 'मिरचे की धूनी और तमाँचा' और इसके लेखक का नाम 'श्रीमान तड़ातड़ ओझा' है। बालकृष्ण में उचित शीर्षक चयन करने की अनुपम शक्ति है।

इस अवतरण के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि बालकृष्ण का उस शक्ति के साथ कोई विरोध नहीं जिसपर उन्होंने उक्त लेख में आक्रमण किया है। महात्मा गाँधी की निन्दा के कारण बालकृष्ण ने उसकी खबर ली है। यह द्वेष उनका स्वार्थगत न होकर निस्वार्थ है।

इस शैली में व्यञ्जनात्मकता का आश्रय नहीं लिया गया, अन्यथा प्रयोगों की अभद्रता बचायी जा सकती थी। भावना के वेग से भाषा की घड़घड़ाहट दूर से सुन पड़ती है। उसकी कर्कशता रौद्र रूप धारण किये है। उर्दू, हिन्दी और संस्कृत के जैसे शब्द आये हैं प्रयोग किये गये हैं। इस अवतरण अथवा ऊपर के अन्य अवतरणों से यह न समझना चाहिए कि बालकृष्ण प्रकृति से ही औघड़ बाबा की प्रसाद वृत्ति और दुर्वासा की कोप वृत्ति लेकर पैदा हुए हैं। उनमें वास्तव में औघड़ बाबापना और दुर्वासापना नहीं है। उनके रागद्वेष के आलम्बन खूब सोचे-विचारे, समझे-बूझे हैं। शैली में जो बहुत तीव्र गति है और जो अनुपम दंशन-शक्ति है उसका कारण है उनका औरों की अपेक्षा अधिक निर्मल और सहसा झंझना जानेवाला हृदय! फिर भी 'मिरचे की धूनी और तमाचा' वाली उनकी शैली उनके गौरव की वस्तु नहीं। है भी यह अपनी शैली का अकेला लेख। अतएव इसे

अपवाद ही समझना चाहिए।

नीचे उनकी एक कहानी का आरम्भिक अंश दिया जाता है:—

"मेरे दो नटखट बच्चे हैं। ऐसे नटखट जैसे बन्दर। वे बड़े भोले हैं। ऐसे भोले जैसे जवानी की उमङ्ग। मेरे बच्चे बड़े कठोर हैं। ऐसे कठोर जैसे सालिगराम की बटिया। मेरे बच्चे बड़े स्नेहार्द्र हैं। ऐसे स्नेहार्द्र जैसे स्तन पीनेवाले बच्चे के दूध भरे मुँह की सौंधी सौंधी सुगन्ध। मेरे बच्चे बड़े तगड़े हैं। ऐसे तगड़े जैसे पार्थ-सारथी के आजानु बाहु। मेरे बच्चों की आँखों में सपना रहता है—इस तरह जैसे छोटे छोटे घोंसलों में चिड़ियाँ रहती हैं।

मेरा एक बालक बड़ा लम्बा है। ऐसा लम्बा जैसे चीड़ का वृक्ष। मेरा दूसरा बालक जरा ठिंगना है। ऐसा ठिंगना जैसे बरगद का गुट्ठल झाड़। मेरे बच्चों के दिल है। उनका कलेजा सवा हाथ का है। होसले बढ़े हुए हैं। वे भोले भण्डारी यह नहीं जानते कि आजकल यहाँ दिल का हौसला अभिशाप बन आता है। उन्हें क्या? जब जवानी का जोश बल्लियों उछलता है; तब वे दोनों बच्चे मुझे घेर कर खड़े हो जाते हैं और लगते हैं धींगा-मुश्ती करने। अपनी उमङ्ग में वे कभी गाते हैं, कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं और कभी घुपसुप हो जाते हैं।"

कैसी अलङ्कारिक भाषा है। कैसा प्रवाह है। कैसे छोटे छोटे किन्तु चोट पहुँचानेवाले वाक्य हैं। अलङ्कारों की योजना में नयी उद्भावनाएँ की गयी हैं। कहानी पर युगधर्म का प्रभाव है। वह कवि की लेखनी-प्रसूत है यह स्पष्ट मालूम होता है। छिपा हुआ भाव वही 'राग' है। देशभक्ति उनका आलम्बन है। बच्चे केवल प्रतीक मात्र हैं। नीचे उनकी 'राखी' नामक गद्य-खण्ड का प्रारम्भिक अंश उद्धृत किया जाता है:—

"कच्चे सूत का यह फन्दा आज फिर मुझ निष्कञ्चन को वत्सल-स्नेह के सूत्र में बाँधने के लिए आ गया है। बड़ी प्रतीक्षा के बाद

आज तुम्हारा अनुराग-स्निग्ध लिफ़ाफ़ा मिला। राखी-पूर्णिमा आयी और सूनी ही चली गयी। दिन पर दिन बीतते गये। मैंने समझा कि चिर-पोषित मञ्जुल भाव अब शायद विस्मृति की काली चादर ओढ़ कर सो गया है। दिल में तड़पन थी, वेदना थी, अन्यमनस्कता थी, विषाद भावना थी। पर, मेरे मुख पर सूखी हँसी थी, उदासीनता का बहाना था। इतने ही में एक दिन, जगत्पति के अकल्पित आशीर्वाद की तरह, तुम्हारा ललित-लिफ़ाफ़ा मेरे निराश, किन्तु अति प्रतिच्छित, हाथों पर आन गिरा। बहिना रानी, सच कहता हूँ, उस समय यह मेरा मूर्ख हृदय कोलाहल कर उठा। तुम क्या जानो, पगली, कि तुम्हारे 'प्रिय भैया' के हृदय में कौन सा महासागर लहराया करता है? हिये के कपाट खोलकर अन्तस्तल का यह प्रचण्ड हाहाकार मैं कैसे दिखलाऊँ? जाने दो; उसकी जरूरत ही क्या है?

मेरे बड़े भाग्य! कि इतनी अवधि के उपरान्त तुम्हें अपने एक नगण्य भाई की याद तो आयी। मैं उलाहना नहीं देता। मुझे उलाहना देने का हक़ ही क्या है? उपालम्भ तो वह भाग्यशाली दे, जिसे तुम्हारे प्रेम-भाव को अधिकारपूर्वक प्राप्त कर सकने का विश्वास हो। मैं तो सचमुच अपना सौभाग्य समझता हूँ जो छठे-चौमासे तुम्हारे मानस-दिङ्-मण्डल में मेरी छाया पड़ जाती है। मत समझो, रानी, कि मैं अपनी वास्तविक परिस्थिति से अनभिज्ञ हूँ। मेरे पास और धन्धा ही कौन सा है। चौबीसों घण्टे अपनी भावनाओं का विश्लेषण किया करता हूँ।"

कैसा रसात्मक वर्णन है! कितनी तन्मयता है। इस स्थल पर बालकृष्ण की लेखन-प्रणाली बड़ी निखरी हुई, प्राञ्जल और उलझा लेनेवाली है। प्रेम के स्वरूप-निरूपण में तो उनका हृदय ही बोलने लगता है। उसकी भाषा अजीब हो जाती है। एक सुखद भावना का सञ्चार हो जाता है। शब्दों के सुहावने तद्भवरूप इस शैली में दिखायी देते हैं। ब्रज तथा अवधी के प्यारे शब्दों का प्रयोग भी

दिखायी देता है।

नीचे का अवतरण इनका सबसे नवीन है। यह उनके 'झनन-झनन' नामक लेख से लिया गया है:—

"वह अभी ताज़ा ही आया था-जेल से; यह कि वह भी गाँधी के गधों में से एक था। तुम अगर बाबू हो—यानी यह, कि तुम अगर दर्ज़ी के बनाये हुए आदमी (Tailor-made-man)हो, तो तुम उसे समझ न सकोगे। इसके अर्थ यह नहीं हैं कि तुम्हारी अक़्ल चरने गयी है ; न इसके वही अर्थ हैं कि तुममें अक़्ल है ही नहीं। नहीं तुममें अक़्ल है, और ज़रूर है; पर, हे दर्ज़ी-निर्मित मुकप्पड़ जीव, तुम उसे समझ न सकोगे, जो अभी ताज़ा जेल से आया है। सुरख़ाब के पर थोड़े ही लग जाते हैं उनके जो जेल से आते हैं ? वैसे ही मामूली इनसान, दो पैर के जन्तु, होते हैं वे, जो जेल जाते और वहाँ से आते हैं। पर, यार, उनकी भी एक धज होती है, इतना तो मान ही लो। वे बेवक़ूफ़ हैं, कम अक़्ल हैं, बौड़म हैं, निर्धन हैं, दाल आटे के भाव का पता नहीं है,। अच्छा। सही। अगर चाहो और दस बीस सुना लो। लेकिन, मैं यह कहता हूँ कि तुम अगर उन्हें समझने की कोशिश करोगे तो तुम्हारा कुछ बिगड़ न जायगा।"

बालकृष्ण शर्मा के जितने अधिक लेख 'प्रताप' से अन्य पत्र-पत्रिकाओं में उद्धृत किये गये हैं उतने कदाचित् ही किसी हिन्दी-सम्पादक के किये गये होंगे। 'प्रताप' इनसे गौरवान्वित है। बालकृष्ण में न तो भाषा सम्बन्धी हकलाहट है और न शैली का कनफुस्सीपना। वह प्रखर और वेग-सम्पन्न है। उसका क्रान्तिकारी बिलोड़न दूर से सुनायी देता है। इस युग के गद्यकारों में बहुत कम ऐसे लेखक हैं जो काव्यात्मक होते हुए भी स्पष्ट हों। बालकृष्ण ऐसे ही इने-गिने लेखकों में से हैं। इनके मोटे-मोटे शब्द और बड़े बड़े वाक्य स्वयं फिसलते हैं। उन्हें धक्के लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

वर्तमान युग में समालोचना का एक अत्यन्त आवश्यक अङ्ग तुलनात्मक आलोचना है। इसी के अनुसार आजकल की यह एक अनिवार्य प्रथा है कि आलोच्य विषयों का समता और विषमता के आधार पर वर्ग स्थापित किये जाँय। हिन्दी वाग्-विदग्धता की प्रवृत्तियों का विश्लेषण भी इसी सिद्धान्त के अनुकूल हो सकता है। परन्तु इस विषय में चाहे कितनी ही सावधानी की जाय निष्कर्ष असन्दिग्ध नहीं हो सकता। आलोचक का दृष्टिकोण वाक्विदग्धता की जिस ख़ूबी से प्रभावित हो कर व्याख्या करने बैठेगा उसी ख़ूबी का अतिशय्य दूसरे गुणों और दोषों को अवश्य दबा देगा। समूची शैली के समूचे गुण-दोष सहसा किसी एक अकेले को स्पष्ट हो जाँय यह जरूरी नहीं। अतएव वर्ग-स्थापना की विधि एक ओर लेखक की निजी धारणा कही जा सकती है और दूसरी ओर उसमें एकङ्गापन हो सकता है। तो भी आलोचना-विधान को मार्ग-प्रदर्शन के लिए वर्गीकरण की प्रथा बुरी नहीं होती। परवर्त्ती विवेचक भूली हुई ख़ूबी, छिपे हुए दोष को कभी न कभी निकाल ही लेंगे।

हिन्दी की शैलियाँ और उनका वर्गीकरण

महावीरप्रसाद द्विवेदी वास्तव में एक वर्ग के जन्मदाता नहीं हैं। उनमें तीन प्रकार की शैलियाँ स्पष्ट दिखायी देती हैं। उनको प्रथक-प्रथक ग्रहण करके वर्तमान हिन्दी के गद्य-लेखकों के तीन प्रथक-प्रथक वर्ग स्थापित हो गये। उनके दार्शनिक और दुरूह विषयों की समीक्षा हमेशा हल्की शैली में होती थी। छोटे-छोटे वाक्य और छोटे-छोटे शब्द होते थे। उनका कार्य मस्तिष्क को समझाना होता था। इस शैली को रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक लेखों में अपनाया है। वैसे रामनरेश त्रिपाठी, पदुम लाल पन्नालाल बख्शी, धीरेन्द्र वर्मा, रामचन्द्र टन्डन, डाक्टर ईश्वरीप्रसाद, गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, सत्यकेतु विद्यालङ्कार, जयचन्द विद्यालङ्कार, लक्ष्मीधर बाजपेयी, केदारनाथ

द्विवेदी वर्ग

गुप्त, रायबहादुर हीरालाल, चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद, चतुर्वेदी श्रीनारायण, चतुर्वेदी बनारसीदास और मिश्रबन्धु इत्यादि महानुभावों में इस शैली के दर्शन होते हैं।

महावीरप्रसाद की दूसरी शैली रसात्मक भाषा में कुछ लम्बे लम्बे वाक्यों में दिखायी देती है। उसमें चलताऊ उर्दू के शब्द भी हैं और तत्सम् संस्कृत के शब्द भी। इस शैली में जब कभी व्यङ्ग किया गया है तो उसका मार्दव नष्ट नहीं हुआ। वह शैली गुदगुदा देती है, विपक्षी को भी तिलमिला नहीं देती। यह शैली अधिकतर व्याख्या लिखने के लिए और कहीं-कहीं कहानियाँ लिखने के लिए प्रयोग की गयी है। इस शैली के सबसे श्रेष्ठ उन्नायक गणेशशङ्कर विद्यार्थी थे। उनके हाथ में पड़ कर चाहे इसमें व्याकरण का उतना कड़ा अनुशासन न माना गया हो जितना द्विवेदीजी के हाथों से उसे मानना पड़ता था, परन्तु उसमें अधिक वेग, अधिक ओज और अधिक सजीवता अवश्य आ गयी।

गणेशशङ्कर ने इसे टीका-टिप्पणी का माध्यम बनाकर इसमें आघात-क्षमता का अधिक सन्निवेश किया। पालीवाल ने अपनी शैली में गणेशशङ्कर की आघात-क्षमता को और बढ़ा कर स्वीकार किया; परन्तु वे उनकी सरसता और रागात्मिकता न ला सके। बालकृष्ण ने दोनों पक्षों को समुन्नत किया। कोमलता इतनी बढ़ी कि उनकी शैली से कोई उनको उनके विषय का अनन्य भक्त कह सकता है और आघात-क्षमता इतनी बढ़ी कि वे द्विवेदी जी की तीसरी शैली को, जिसका आगे जिक्र किया जायगा, अपनाते हुए दिखायी देते हैं।

अपनी शैली में प्रयाग के प्राचीन 'भविष्य' के सम्पादक तथा 'भारत में अङ्गरेज़ी राज्य' के लेखक सुन्दरलाल भी गणेशशङ्कर की शैली के ही समकक्ष हैं। कृष्णकान्त की शैली में सरसता भी है, और जागरूकता भी। व्यङ्ग बहुत शिष्ट और सीमित है। उनमें द्विवेदी और प्रेमचन्द्र की शैलियों के सम्मिलित गुण दिखायी देते हैं।

द्विवेदी जी के तीसरे वर्ग में वह शैली आती है जिसमें उनका उग्र

स्वभाव परिलक्षित है। जब किसी को जलील करना होता था तब द्विवेदीजी इस शैली की शरण लेते थे। बड़े-बड़े वाक्यों के भीषण और कठोर प्रहार वे एक के बाद एक चलाते हुए चलते थे। मृदुता तो इस शैली से कोसों दूर रहती है। कहीं-कहीं पर वह शिष्टता की सीमा भी लांघ जाती है। इस वर्ग ने हिन्दी को प्रभावित किया और इसके कई नये रूप दिखायी पड़ते हैं। इसी शैली को कुछ बढ़ाकर और कुछ मैथिली तर्ज का सन्निवेश करके पद्मसिंह शर्मा ने अपनी तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखीं। काशी के भगवानदीन इस प्रणाली के पूर्ण अनुयायी थे। कानपुर के भूदेव शर्मा विद्यालङ्कार को भी इसी वर्ग का समझना चाहिए। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' को भी इसी कोटि की आलोचनाएँ लिखने का अभ्यास है। परन्तु इनकी भाषा में द्विवेदी अथवा पद्मसिंह की ज़िन्दादिली नहीं है।

वेंकटेशनारायण तिवारी ने इधर कुछ लिखने का प्रयास किया है। आपकी आलोचनाओं में शैली का पूरा पद्मसिंहपना ही नहीं रहता, प्रत्युत कहीं-कहीं तीव्र आघात करने में आप पद्मसिंह को भी मात करते हैं। आपके लेख जितने असंयत रहते हैं उतने ही ऊटपटाङ्ग भी। तथ्य की एक बात पर ढेर के ढेर पैराग्राफों का बोझ लदा रहता है और शैली में पग-पग पर आप का अनाधिकारीपन और मिथ्या अहंभाव दिखायी पड़ता है। तत्वावधान की कमी, साहित्य की नासमझी, बड़े लेखकों के प्रति अश्रद्धा का प्रचार यही इनके आलेख के प्रमुख लक्षण हैं। सस्ते अख़बारीपने की सहायता से उथली बुद्धिवालों को भड़का कर अपना काम सिद्ध करने की वृत्ति इस वर्ग के इसी लेखक में दिखायी देती है।

• इस वर्ग की उद्भावना वास्तव में किसी प्राचीन हिन्दी शैलीकार के अनुसरण में नहीं है। श्यामसुन्दरदास का ढंग अच्छा हो या बुरा उनका निजी है। जयशङ्करप्रसाद के हाथों में पड़ कर श्यामसुन्दर दास की शैली अधिक सरस और कोमल हो गयी। उसका कुछ रूखा-

एक ओर उर्दू का प्रवाह और दूसरी ओर संस्कृत की कोमलता को लेकर वियोगी हरि की शैली खड़ी हुई और उनकी निजी संरचता और अनुपम काव्य-ज्ञान से मिलकर वह विना छन्द की

वियोगी हरि वर्ग

कविता के रूप में विकसित हुई। कहीं-कहीं बड़े-बड़े संस्कृत पदों से लद कर भी वह व्यङ्ग करती हुई चलती है। कहीं-कहीं पर उर्दू-फारसी की चुटीली उक्तियों और शब्दों में सरस कविताओं की लड़ी जोड़ती, इठलाती हुई आगे बढ़ती है। इनकी शैली की मस्ती बालकृष्ण शर्मा में है; परन्तु अवतरणों के अभाव हो जाने के कारण उसमें गद्य-पद्यमयता नहीं होती।

अपनी उर्दूदानी के बल पर प्रेमचन्द्र जी हिन्दी-क्षेत्र में उतरे। हिन्दी-उर्दू के सामञ्जस्य ने उनकी वाग्-विदग्धता को तीन स्वरूप दिये।

प्रेमचन्द्र वर्ग

उर्दू-प्रधान खूब मुहावरे-दार शैली। संस्कृत शब्दों से सुशोभित कोमल सरस शैली तथा दोनों का सामञ्जस्य स्थापित करनेवाली शैली। अन्तिम शैली में ही उनके तमाम ग्रन्थ हैं। परन्तु कहीं-कहीं पर एक ही कहानी में तीनों शैलियाँ दिखायी देती हैं। पहले वर्ग में 'उग्र' का नाम उल्लेख-नीय है, परन्तु 'उग्र' जी बिलकुल अलग खड़े हुए दिखायी देते हैं। उनमें उर्दूपना केवल कुछ शब्दों और मुहावरों तक ही सीमित रह गया है और उसी सीमा तक अङ्गरेजी मुहावरों और शब्दों का भी उन्होंने सन्निवेश किया है। 'उग्र' जी की शैली बड़ी हलकी होने के कारण प्रेमचन्द्र जी से नितान्त भिन्न है; फिर उसकी प्रेरणा में प्रेमचन्द्रही हैं।

उग्र की समता में उनसे कुछ पहले साहित्यक जीवन आरम्भ करने वाले जी. पी. श्रीवास्तव की शैली का उल्लेख किया जा सकता है। परन्तु केवल तरलता, वाक्-वैचित्र्य, छिछलेपन में ही दोनों का साम्य उपस्थित किया जा सकता है। उग्र जी में व्यंग्यात्मकता का गहरापन है, वह श्रीवास्तव में ढूँढ़ने से न मिलेगा। रमाशङ्कर अवस्थी 'वर्तमान' सम्पादक को उसके कुछ छींटे मिल गये हैं। प्रेमचन्द्र की दूसरी शैली

का प्रभाव भगवतीप्रसाद बाजपेयी पर स्पष्ट है। यद्यपि इनका झुकाव अब तीसरी प्रकार की शैली की ओर अधिक है। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने इस शैली को कोरी संस्कृत सम्मत पद्धति पर घसीट कर निर्जीव कर दिया और वह केवल शब्दों का चमत्कारपूर्ण ढेर रह गयी। तेजरानी दीक्षित, सुभद्रादेवी चौहान, सियारामशरण गुप्त, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', इसी वर्ग में आवेंगे।

तीसरे वर्ग के समकक्ष हिन्दी में बहुतों की शैलियाँ मिलेंगी। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार और ऋषभचरण जैन इसी वर्ग में सम्बन्धित किये जा सकते हैं। इन लोगों की शैलियाँ अधिकांश में कुछ उलट-फेर के साथ प्रेमचन्द्र से भिन्न कही जा सकती हैं; परन्तु अभिव्यञ्जना के मूल मनोभाव एक ही हैं। झाँसी के वृन्दालाल वर्मा पर भी इसी वर्ग का प्रभाव पड़ा है। आजकल के उनके गद्यखण्ड इस शैली के अपवाद अवश्य हैं। उनमें विचार-सङ्केत चाहे कितना ऊँचा हो, परन्तु शैली की दृष्टि से वे लेखक के उपन्यासों और उसकी कहानियों से बहुत पीछे हैं। उनमें चटकीली सरसता का एकदम अभाव है।

हिन्दी-संसार में अपनी शैली के कारण बिलकुल अलग खड़ा हुआ जो व्यक्ति दिखलायी देता है वह है माखनलाल चतुर्वेदी।

माखनलाल वर्ग

उनकी शैली भूतकाल की चीज़ नहीं, वह वर्तमान की सौग़ात है। माखनलाल कला-विहीन कलाकार हैं। स्वाभाविक प्रवाह में उनके चिन्तन के भाव-खण्ड बहा करते हैं। उनकी भारी चिन्तना भावमय और काव्यमय होती है। उनके गद्य में काव्य बहा करता है परन्तु वह वियोगी हरि की शैली की भाँति नहीं। उसमें कोरी तन्मयता, भावुकता, अथवा भक्ति ही नहीं है, उसमें कला की अपूर्व क्षमता का वाग्-विहार भी है। अनोखे, एक-से-एक नये, अभिव्यंजना के स्वरूप, कोई देवता भीतर से ढकेलता जाता है और श्रोता तथा पाठक मुग्ध होकर रह जाते हैं। उनकी शैली दार्शनिक ग्रन्थियों के सुलझाव में भी अपनी काव्य

उङ्गलियों का ही प्रयोग कला के दस्ताने पहन कर करती है। उनके अनुयायी वर्ग में उनकी शैली के समकक्ष किसी की शैली नहीं पहुँचती। वैसे विनोदशंकर 'व्यास', श्रीकृष्ण प्रेमी, मोहनलाल महतो थोड़ा बहुत वैसा ही लिखने का प्रयास करते हैं। अभिव्यंजना सम्बन्धी नये खण्डों का स्वाभाविक उद्रेक, बालकृष्ण शर्मा में भी है; परन्तु वह एक दूसरी प्रकार का है।

माखनलाल की संकेतात्मकता और कला की पकड़ निराला ने प्रबन्ध-रचना में उस शैली को घसीटना चाहा, परन्तु उसके प्रबन्ध पहेली होकर बुझौव्वल के प्रश्नों को हल करने लग गये। उनकी कहानियों और उपन्यासों की भाषा में कुछ-कुछ नवीनता के लक्षण मिल जाते हैं, परन्तु उनकी शैली में स्थिरता का अभाव है। उनकी शैली में चक्कर काटने की एक दूषित प्रवृत्ति है। प्रबन्धों में एक साधारण विचार की अभिव्यक्ति में उन्हें एक भद्दा लम्बा चौड़ा रास्ता तय करना अच्छा लगता है और कभी-कभी वे केवल सूत्रों में बात करना पसन्द करते हैं।

शैलियों का ऊपर दिया हुआ वर्गीकरण एक अधिकारी की जाँच का फल नहीं है। उसे एक विद्यार्थी के अध्ययन का निजी निष्कर्ष समझना चाहिए। भावों का अङ्कन

उपसंहार

जिस रूप में होता है वह बाहरी वाग्-विदग्धता को छोड़ कर नहीं होता। नाना शैलियों का स्पष्टीकरण हमारे स्मरण-पट पर होता रहता है। हमारी शैली न जाने कितनी शैलियों की खिचड़ी होती है। भीतर जो शैली अधिक स्पष्ट है बाहर अभिव्यक्ति में उसी की अधिक गहरी छाप दिखायी देती है। बाहरी शैलियों का सामूहिक स्पष्टीकरण, विश्लिष्ट रूप में, अभिव्यञ्जना में ढूँढ़ा जा सकता है। उन संश्लिष्ट स्वरूपों की प्रथक-प्रथक अवतारणा का इतिहास जिस लेखक के सम्बन्ध में जितना ही अस्पष्ट मालूम होता है उतना ही वह लेखक अपनी वाग्-विदग्धता में मौलिक

कहा जाता है। लेखक की अभिव्यञ्जना के तत्वों का उद्‌गमस्थान तथा इतिहास जितना छिपा होगा उतना ही लेखक की मौलिकता असन्दिग्ध सिद्ध होगी। अतएव शैली की अनुकरणकारिणी अथवा स्वतन्त्र प्रेरणा के अनुसार विभाजन करना, मनोविज्ञान की नासमझी प्रकट करना है।

जिज्ञासा को धीरे-धीरे उत्तेजित करके निष्कर्ष तक पहुँचते पहुँचते उसके चरम-स्वरूप को सुलगा देनेवाली आलेख-प्रणाली जो सुखद विस्मय को उत्तरोत्तर सजग करती चलती है, वह बड़े-बड़े वाक्यों से गुम्फित होने पर भी, पेचीदेपने के ही कारण, उत्तम कही जा सकती है। छोटे-छोटे वाक्योंवाली वाक्‌विदग्धता में या तो तर्क के बल पर चिन्तना का क्रम विकास हो और विचारों का आकर्षण और क्रम पाठक को स्वतः उलझाते हुए आगे ले चले या वाक्य-वाक्य में रस के छोटे-छोटे मधुर छींटोंवाला व्यङ्ग गुदगुदाता हुआ आगे बढ़े।

छोटे-बड़े वाक्यों की मिलवाँ शैली बहुधा रसात्मक और इतिवृत्तात्मक स्थलों में बँटी रहती है। कुशल शैलीकार किसका कहाँ प्रयोग करना चाहिए, खूब समझता है। नवसिखिये, अधकचरे लेखक अपनी अनगढ़ भाषा के बीच में चुस्त और रससम्पन्न किसी अच्छे लेखक के वाक्य या वाक्यखण्ड बलपूर्वक ठूंस कर अपने आलेख को सजाते हैं। यह स्तेयवृत्ति हानिकर है। चिथड़े की गुदड़ी में मखमल का पैवन्द कभी अच्छा नहीं लगता। सङ्केतात्मक लक्षण, भाषा संगठन, गागर में सागर भरने की क्षमता, प्रवाह और सटी शैली, ये गुण बानरी वृत्ति के आश्रित नहीं, इनका विस्फोट अभ्यन्तर से होता है।

वर्तमात हिन्दी-साहित्य गद्य का विकसित स्वरूप है। आधुनिक काल में गद्य का आविर्भाव सबसे प्रधान साहित्यिक घटना है। "सम्वत् १९५७ से आज तक" इस थोड़े से काल में हमारे साहित्य के भीतर जितनी अनेक रूपता का विकास हुआ है, उतनी अनेकरूपता

का विधान कभी नहीं हुआ था। "इस साहित्योदय की अरुणिमा हमें भारतेन्दु काल में ही मिल गयी थी। उस समय अनेक पत्रिकाएँ निकलीं। किन्तु मनोरञ्जक साहित्य का सृजन ही उस काल की प्रचलित धारा थी। शास्त्रीय विषयों का उन्नयन नहीं देख पड़ा था। शीघ्र ही अङ्ग-रेज़ी शिक्षा के प्रसार से हिन्दी गद्य विस्तृत होने लगा। साहित्य की विभिन्न विचार-धाराएं हिन्दी में अवतीर्ण हुईं और कुछ ही समय में शिक्षा, अर्थशास्त्र, इतिहास, भ्रमण, उद्योग-व्यापार, चिकित्सा, कृषि, भौतिक-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान आदि अन्यान्य क्षेत्रों की चर्चा हिन्दी गद्य में होने लगी। स्त्री-शिक्षा और धर्म-सम्बन्धी पुस्तकें तथा उपदेशात्मक सामग्री में सबसे पहले गद्य लिखा गया। इस काल में हिन्दी गद्यकारों को संस्कृत, फ़ारसी, अरबी के अतिरिक्त अङ्गरेज़ी तथा देश की इतर प्रान्तीय भाषाओं और साहित्य से अभिज्ञ विद्वान मिले।

हिन्दी गद्य की वर्तमान प्रगति पर एक दृष्टि

कहानी और उपन्यास पहले पहल नानी-दादी की रोचक कहानियों को लेकर खड़े हुए, और फिर बालकों की जिज्ञासा की चीज़ न रहकर बड़ों की मनोविनोद की वस्तु बने। इस मनो-विनोद के मूल में भी जिज्ञासा आबद्ध थी। इसके स्वरूपों में विभिन्नता आ गयी थी।। अपने अपने मनोविनोद की अपनी अपनी निजी कथाएँ दिखायी देने लगीं थीं। कुछ ऐयारी की कथाएँ बनीं तो कुछ वीरता की गाथाओं के रूप में निश्चित हुईं। साहित्य को धर्म का साधन माननेवाले पुण्यात्माओं ने जब कथाओं का वेगवान प्रभाव देखा तब उन्होंने कथाओं को नैतिक-सिद्धान्तों के प्रचार का साधन बनाया। इस व्यापार में भी लोगों का चित्त टिका। पढ़ने-पढ़ानेवालों की कमी न थी। कला के सच्चे पारखियों को कहानियों में मञ्च पर की वक्तृताओं का लहजा कुछ पसन्द न आया और आरम्भ से ही एक आदर्श

उपन्यास

से प्रेरित होकर कथानक को बलात् उस ओर ढालने का व्यवसाय भी अधिक रुचिकर सिद्ध न हुआ। लोग कथा को शुद्ध कथा के रूप में देखना चाहते थे। अतएव आदर्शवादिता के इस आवरण को भी कथाओं में उखाड़ फेंकना पड़ा और कथा का और कला का असली रूप निखर उठा।

यह युग 'जल्दबाज़ी, का है। प्रयत्न-लाघव की ओर जन-साधारण को वृत्ति अधिक झुकी हुई है। अतएव उपन्यासों के पनपने की उर्वरा भूमि कम हो गयी है। लोग कहानी लिखने-पढ़ने की ओर अधिक झुके हैं। रसात्मकता को अधिकतर उपन्यासों की भूमि से खदेड़कर कविता के क्षेत्र में भेज दिया गया है। आदर्श-कविता के प्राचीन सिद्धान्त के स्थान पर यथार्थवादिता का सन्निवेश बढ़ता जाता है। गोस्वामी जी की रामायण के सदृश कोई उपन्यास प्रभावोत्पादक नहीं दिखायी देता। यह अवश्य है कि प्रसादान्त और विषादान्त दोनों प्रकार के उपन्यास उपलब्ध हैं।

इस युग के बहुत से उपन्यास इसलिए असफल कृति हैं कि उनमें उपचेतनाओं का यथार्थ सङ्गठन नहीं मिलता। चरित्र-चित्रण में चरित्रवादिता का न यथार्थ गुण है और न आदर्श। कथा मन्द और विषयान्तरों से परिपूर्ण है। भाषा रूखी, अधूरी और धक्के की अपेक्षा करती है। अन्त और आदि का स्वरूप या तो अच्छी प्रकार से कूटे हुए मार्ग पर ढकेला गया है, या नितान्त बेतुका और अस्पष्ट है।

हिन्दी-भाषा-भाषी जनता सर्वप्रथम बङ्ग साहित्य की ओर झुकी। उपन्यास धारा का स्रोत बहुत काल पर्यन्त बङ्गाल ही रहा। आरम्भ के अनेक नाटक भी बङ्गलानुवाद ही हैं। साहित्य के इस उत्थान में व्याकरण की शुद्धता, भाषा सौष्ठव तथा शैली की अनेकरूपता का विकास हुआ। लेख्य विषयों का क्षेत्र क्रमशः बढ़ रहा था, अतः भाषा में प्रौढ़ता और गम्भीरता के साथ समीचीनता

झलकने लगी। अनुवादों के साथ ही साथ मौलिक उपन्यासों का प्रणयन भी द्रुतवेग से होने लगा। उपन्यासों में तिलिस्म और ऐयारी की बहुत कुछ मौलिक रोचकता देश को केवल बहुत दिनों तक बहलाये ही नहीं रही, वरन् इससे भाषा की भी बड़ी उन्नति हुई। "चन्द्रकान्ता" जैसे उपन्यासों के जितने संस्करण हिन्दी में प्रकाशित हुए होंगे, उतने अन्य किसी भी पुस्तक के शायद ही हुए हों। जिस प्रकार बङ्गलानुवादों के लिए लोग गदाधरसिंह, रामकृष्ण वर्मा, कार्तिकप्रसाद खत्री और गोपालराम गहमरी की कृतियाँ खोजा करते थे, उसी भाँति अब देवकीनन्दन खत्री की पुस्तकों के लिए तड़पने लगे। हिन्दी के मौलिक उपन्यासकारों में आपका नाम पहले लिया जाता है। आम-फ़हम भाषा में कौतूहलोत्पादक घटना का वर्णन इन ग्रन्थों की ख़ूबी है।

मौलिक उपन्यासों का परिचय प्राप्त करने के पूर्व अनुवादों का कुछ उल्लेख कर देना आवश्यक है। वास्तव में आज तक जितने अधिक उपन्यास अनूदित हुए हैं, उतनी मात्रा में अन्य किसी भी विषय के ग्रन्थ नहीं हुए। इस युग के बङ्गलानुवादों में रूपनारायण पांडेय और ईश्वरीप्रसाद शर्मा उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने बंकिम बाबू, रमेशचन्द्र दत्त, चन्डीचरन, शरच्चन्द्र, रवीन्द्रनाथ, रखालदास आदि ख्यातिनामा बङ्गाली लेखकों की रचनाएँ अनूदित, की हैं। लक्ष्मीधर बाजपेयी और रामचन्द्र वर्मा ने मराठी उपन्यासों का अनुवाद किया है। गिरधर शर्मा 'नवरत्न' ने गुजराती उपन्यासों के अनुवाद किये हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय ने उर्दू से 'वेनिस का बांका' अनुवाद किया। रूसी, फ्रेंच और अङ्गरेज़ी के उपन्यास अनुवादकों में रूपनारायण अग्रवाल, छबिनाथ पांडेय, प्रेमचन्द्र, गणेशशंकर विद्यार्थी, ऋषभ-चरण जैन, राजबहादुर सिंह आदि उल्लेख्य हैं। प्रवासीलाल वर्मा तथा शान्तिकुमारी वर्मा मालवीय ने संयुक्त रूप से अनुवाद किये हैं।

मौलिक उपन्यासकारों में देवकीनन्दन खत्री के बाद सर्व श्री किशोरीलाल गोस्वामी, मेहता लज्जाराम, अयोध्यासिंह उपाध्याय, ब्रजनन्दन सहाय, प्रेमचन्द्र, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', जयशङ्करप्रसाद, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', इलाचन्द्र जोशी, चण्डिकाप्रसाद मिश्र, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, चतुरसेन शास्त्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', तेजरानी दीक्षित आदि का नाम प्रसिद्ध है। वृन्दावनलाल वर्मा भी एक अच्छे उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यास अधिकतर प्रेमचन्द्र की भाँति कथानक प्रधान होते हैं। उनमें साधारण भाषा लिखने का अनुपम सौकार्य है। उनका चरित्र-चित्रण अधिकतर वर्णनात्मक ढङ्ग का न होकर निष्कर्षात्मक होता है। कला की दृष्टि से यह एक ऊँची बात है। श्रीनाथसिंह का 'उलझन' नामक उपन्यास ऐसा बुरा नहीं है जैसा लोगों ने उसकी समालोचना में लिखा है। उसे हम आरम्भिक प्रयास अवश्य कह सकते हैं।

यहाँ पर कुछ उपन्यासों का भी नामोल्लेख करना प्रासङ्गिक होगा। किशोरी लाल गोस्वामी ने छोटे-मोटे ६५ उपन्यास लिखे, किन्तु वे बहुत कुछ वैसे ही हैं जैसे कि आजकल नौटंकी की किताबें। इनकी मौलिकता विषैले तल पर टिकती थी। इनकी भाषा कुछ दिनों तक तो सरल हिन्दी रही, किन्तु बाद की रचनाओं में उर्दूदानी बेतरह खटकती है। श्री प्रेमचन्द्र जी के मुख्य उपन्यासों में सेवासदन, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, रङ्गभूमि, कायाकल्प, बलिवेदी, ग़बन और प्रतिज्ञा का नाम आता है। आप का "फ़िसानए-आज़ाद" का हिन्दी रूपान्तर "अज़ाद कथा" भी बड़ा रोचक है। आपके कहानी-संग्रह एक दर्जन से भी अधिक निकल चुके हैं।

चण्डीप्रसाद का 'हृदयेश' 'मङ्गल-प्रभात' एक सुन्दर कृति है। जयशङ्कर प्रसाद का 'कंकाल' और 'तितली' एक उच्च कोटि का सामाजिक उपन्यास है। वृन्दावनलाल का 'गढ़ कुण्डला' 'लगन', 'कोतवाल की करामात' तथा अन्य कई उपन्यास पठनीय हैं।

कौशिक जी की 'भिखारिणी' और 'माँ' भी सुन्दर हैं। 'माँ' अपनी ढङ्ग की बड़ी अनूठी रचना है। जैनेन्द्रकुमार की 'फाँसी' चतुरसेन शास्त्री की 'अमर अभिलाषा' दीनानाथ मिश्र का 'निरुद्देश्य' प्रतापनारायण श्रीवास्तव्य की 'विदा', गिरिजादत्त 'गिरीश' का 'बाबू साहब', शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' भी अच्छे उपन्यास हैं।

चरित्र-चित्रण-प्रधान, सम्वाद-प्रधान तथा कथानक-प्रधान सभी प्रकार के उपन्यास आज रचे जा रहे हैं। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक सभी विषयों पर उपन्यास का विषय सुगमता से बनाया जा रहा है। प्रेमतत्व की मार्मिक गवेषणा मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से आज कल के उपन्यासों में मिलती है। रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से एक ऐसा दल उपन्यास और कहानी लेखकों में उदय हो गया है जो अभिव्यञ्जना में मौलिकता के साथ साथ अन्तर्द्वन्द्व की अच्छी झाँकी दिखाता है और कथानकों को गौण स्थान देकर मनोभावों और मनोविकारों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म निदर्शन कराना अपनी कला का अनिवार्य अङ्ग समझता है। इस समय के अभावों और उत्पीड़नों का अच्छा प्रतिबिम्ब उपन्यासों और कहानियों में दिखायी देता है।

यह कहानियों की प्रधानता का यह है। प्रेसों की बाढ़, मुद्रण की सहूलियत, मासिक, अर्धमासिक और साप्ताहिक पत्रों की बाढ़, शिक्षा का प्रचार आदि कुछ ऐसी घटनाएँ हैं जिनके कारण कहानी को आगे बढ़ने का अनुपम साधन उपलब्ध होगया है। फेनिलमुख दौड़-धूप के युग में बैठकर लम्बे उपन्यास पढ़ने को न अवकाश है और न रुचि। यदि उधर की ओर कुछ भी अभिरुचि है तो लोग उपन्यासों का आनन्द मित्रों की सहकारिता के साथ लेने के अभ्यस्त हैं। अतएव उपन्यास के लम्बे कथानक को 'टाकी' की विनोदमय घूँट ही नीचे उतार सकते हैं।

कहानी

आरम्भ में उपन्यास और कहानी में वही अन्तर था जो संस्कृत

के एक महाकाव्य और खण्ड-काव्य में होता है। संस्कृत साहित्य में आधुनिक कहानी ऐसी कोई वस्तु न थी। एक तीव्रसंवेदना को लेकर उत्कर्षमयी भाषा में निष्कर्ष तक ले जाना ही कहानी का चरम लक्षण नहीं है। पुरानी भाषाएँ उलट रही हैं। कथानक की सुबोधता, उसका क्रम-निर्वाह, उसका सुखद विस्मयापन्न विकास, वस्तु की उच्चता और गम्भीरता, इन बातों का समावेश भी कहानी का अनिवार्य अङ्ग नहीं समझा जाता। चरित्र-चित्रण का वर्णनात्मक ढङ्ग तो पिछड़ी हुई चीज़ हो ही गयी है, उसका निष्कर्षात्मक स्वरूप भी आज के कहानी लेखक के लिए बहुत आवश्यक नहीं। सम्वादों को हटाकर नाटकों के माथे मढ़ दिया गया है। उनके लिए आज बोल-चाल की भाषा से कोई सरोकार नहीं। आज का समीक्षक जिस कहानी में गहरे अन्तर्द्वन्द्व का साक्षात्कार नहीं करता, सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभाव का चित्रण नहीं देखता, शैली की उद्‌भावना में मौलिकता की छाप नहीं पाता, उसे उत्तम कहानी कहने में झिझकता है।

हिन्दी कहानी आज बहुत से रूपों में दिखायी देती है। वर्णनात्मक ढङ्ग की कहानियाँ बहुत हैं। उनमें साक्षात् और परोक्ष दोनों विधानों का रूप दिखायी देता है। प्राकृतिक वर्णन करना भी कहानी-लेखक सीख गये हैं। कुछ कहानियाँ केवल सम्वादों में ही लिखी जाती हैं। कुछ का विस्तार पत्र-लेखन-विधान पर आश्रित है। कुछ कहानियों में टामस हार्डी की गहरी काली भावुकता की छाप है, कुछ में मोपासाँ के यथार्थ-वादी प्रभावोद्‌पादक चित्र हैं। टालस्टाय के सिद्धान्तों वाली एकांकी कहानियाँ भी हिन्दी में हैं। ऐयारी और जासूसी कहानियों की भी कमी नहीं है। कहानियाँ सीधी सादी चलती हुई भाषा में भी मिलेंगी और सुन्दर साहित्यिक भाषा में भी। समाज का चित्रण, राज-नीति का चित्रण, प्रेम का चित्रण, धार्मिक विचारों का चित्रण, कहानियों में मिलता है। आदर्श प्रेरणावाली कहानियों में नैतिकता ऐसी घुली-मिली रहती है कि वह खटकती नहीं। आदर्श-चित्रण और यथार्थ

चित्रण, आदर्श घटनाचक्र,—जिसके विस्तार में अलौकिक स्वरूपों का का भी सन्निवेश आ जाता है—और यथार्थ घटना-चक्र के सम्बन्ध में आज की अच्छी कहानी में कोई टीका टिप्पणी नहीं कर सकता। वर्त्तमान समय के सारे मनोभावों, विचारों और उत्पीड़नों का स्वरूप कहानियों में संरक्षित है। इस युग की कहानियों में युग का पूरा प्रतिनिधित्व मौजूद है।

रवि बाबू और शरद बाबू के प्रभाव से हिन्दी कहानियों में दो वर्ग स्पष्ट दिखायी देते हैं—मनोभाव-प्रधान और कथानक-प्रधान कहानियाँ। रविबाबू के अनुयायी कथानक के तारतम्य पर कोई विशेष ध्यान नहीं देते। वे मन की तह की खोजकर छोटे-छोटे हल्के और गहरे तथ्यों का स्पष्टीकरण ही अपनी कला का स्वरूप मानते हैं। बाह्य परिस्थिति-विशेष का नाता आन्तरिक परिस्थिति से कैसा है, दोनों का आदान-प्रदान किस प्रकार का है, दोनों के आन्दोलन में कैसे घात-प्रतिघात उत्पन्न होते हैं, इसी का स्पष्टीकरण उनका प्रमुख साधन है। कथानक को वे केवल साधना-सोपान मानते हैं। शरद बाबू के अनुयायी कथानक की सुचारुता की सुखदता को नहीं छोड़ते। विदेशों की कहानियों के अध्ययन ने कुछ और तथ्यों को भी हिन्दी कहानी-लेखकों को दिया है। सबका समन्वय आजकल की अच्छी कहानी में मिल सकता है।

उपन्यास-रचना के साथ-साथ हिन्दी में भी कहानियों के दर्शन हुए। हिन्दी में कहानी की धारा की उत्पादक तथा प्रथम उद्गम-स्थल 'सरस्वती' है। सर्व प्रथम 'सरस्वती' के प्रबन्धक गिरिजाकुमार घोष ने लाला पार्वतीनन्दन के नाम से छोटी-छोटी कहानियाँ लिखीं। शीघ्र ही अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं में भी कहानियाँ निकलने लगीं। जन-साधारण का जीवन-संघर्ष अधिक व्यस्त हो चुका था, अतएव उसकी रुचि उपन्यासों से भी अधिक कहानियों की ओर आकृष्ट हुई। फलतः हिन्दी में मौलिक कहानीकारों का आदर होने लगा।

अधिकांशकहानियाँ समाजगत विषयों का ही खण्ड-चित्र होती हैं।

इन कहानी-लेखकों में प्रेमचन्द्र, बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन' तथा 'कौशिक' जी की कहानियाँ लोगों को अधिक पसन्द आयीं। इनकी कहानियाँ, मधुर, ओजस्वी, मनोवैज्ञानिक और हृदय-स्पर्शी होती हैं। पीछे से कहानी-क्षेत्र में अन्य कई प्रतिभावान लेखक उतरे। ज्वालादत्त शर्मा, जयशङ्करप्रसाद, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', विनोदशङ्कर व्यास, जहूर बख्श, मुन्शी कन्हैयालाल, इलाचन्द्र जोशी, राजेश्वरप्रसादसिंह, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, रामनरेश त्रिपाठी, जैनेन्द्रकुमार, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, ऋषभ चरण जैन, रायकृष्णदास, बालकृष्ण शर्मा, धनीराम 'प्रेम', प्रवासीलाल वर्मा, रामचन्द्र टण्डन, रघुपतिसहाय, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', जगमोहन गुप्त, मोहनलाल मेहता, चतुरसेन शास्त्री, क्षितींद्र मोहन 'मुस्तफी', शिवरानी देवी, आदि इस युग के कुशल कहानी लेखक अपनी भावपूर्ण कृतियों से हिन्दी संसार को प्रभावित कर रहे हैं। कहानियाँ भी उपन्यासों की भाँति हिन्दी में अनूदित हुई हैं। रूसी, फ्रेंच अङ्गरेजी और बङ्गला की कहानियाँ प्रतिमास पत्र-पत्रिकाओं में निकलती हैं। इधर कुछ दिनों से कई कवियों की भी प्रवृत्ति कहानी-कला की ओर बढ़ रही है। सुभद्राकुमारी चौहान और सियाराम शरण गुप्त के कहानी-संग्रह निकल रहे हैं। आजकल हिन्दी-साहित्य में कहानियों का ऐसा वेग है कि मासिक पत्रों में कहानी अङ्क निकलते हैं और कुछ लोग कवि सम्मेलनों की भाँति कहानी सम्मेलन भी करते हैं।

हिन्दी में कहानी का भविष्य उज्वल दिखायी देता है। कुछ ऐसे विद्वान और सहृदय व्यक्ति कहानी लिखने लगे हैं जिनके कारण कहानी-क्षेत्र में युगान्तर की एक लहर आ गयी है। अद्वितीय एकान्त-संवेदना के ताने के साथ साथ नितान्त मौलिक अभिव्यञ्जना के सुंदर बाने से मिलाकर, जो कहानी-पट प्रस्तुत हो रहा है वह चिरन्तन जीवन की सूचना रखता है और उसमें कहानी-कला के सारे गुण विद्यमान हैं। कहानी-लेखन-कला पर भी पुस्तकें लिखी जाने लगी हैं और कहानी-

लेखन को प्रथक कला की भाँति लोग अध्ययन करते हैं। कहानी आज कई स्वरूपों में दिखायी देती है।

नाटक की वृत्ति उतनी ही प्राचीन है जितनी मनुष्य सभ्यता। नाटकों के स्वरूप हमेशा परिवर्तित होते आये हैं। संस्कृत साहित्य ने काव्य के बाह्य और आन्तरिक स्वरूप के लिए कलापक्ष और भावपक्ष की अभिव्यक्ति दो प्रकार के विभिन्न स्वरूपों में की। महाकाव्य, खण्ड-काव्य, गद्यकाव्य, चम्पू, इत्यादि में काव्य का कलापक्ष अपनी सीमा तक पहुँचा दिया गया और नाटकों में रसात्मकता कूट कूट कर भर दी गयी। दृश्य काव्य और श्रव्य-काव्य का यह विभाजन सजग न था; परन्तु परिणाम यही हुआ। यद्यपि आगे चलकर बीच की मेंड़ मिट गयी और यह विभाजन स्थिर न रहा; परन्तु नाटकों की रसात्मकता नष्ट न हुई।

नाटक

आज दिन भी रसात्मकता नाटकों का अनिवार्य अङ्ग माना जाता है। लेखकों ने ही आरम्भ से नाटकों को भी साहित्य के अन्य विभागों की भाँति एक विभाग मान रखा था। अभिव्यञ्जना-प्रणाली की बहुत सी विधियों में नाटक को एक उत्कृष्ट विधि समझ रखा था।

हृदय का साहित्य-देवता जब गद्य और पद्य दोनों का जामा पहनकर बड़ी दूर तक बाहर बढ़ता है तब नाटक की सृष्टि होती है। दृश्य-काव्य में 'दृश्यत्व' को ही सर्वस्व कभी नहीं समझा गया। नाटक भी पठन-पाठन की उत्तम सामिग्री समझे जाते थे। अभिनेय होने के दोष ने नाटक की कलात्मक और साहित्यिक वृत्ति को कभी नहीं रोका। यही कारण है कि संस्कृत के कुछ उत्तम से उत्तम नाटक अनभिनेय हैं। वे पढ़ने की वस्तु हैं अभिनय करने की नहीं। कलाकार ने अपनी आत्मा को और किसी विधान में अभिव्यक्त न करके नाटक में अभिव्यक्त किया। हिन्दी में भी इस वृत्ति की अवतारणा हुई है।

हिन्दी में नाटक-रचना अपेक्षाकृत बहुत पहले आरम्भ हो चुकी

थी। 'नहुष' 'आनन्द रघुनन्दन,' 'शकुन्तला' भारतेन्दुजी से पहले लिखे जा चुके थे। भारतेन्दुकृत तथा भारतेन्दुकाल के अन्यान्य लेखकों द्वारा प्रणीत, नाटकों का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। हिन्दी के पुराने नाटकों में सत्यनारायण कविरत्न का "मालती-माधव" और "उत्तर-रामचरित" अनूदित नाटकों में साहित्यिक गुण हैं। कानपुर के राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' कृत "चन्द्रकला-भानुकमार नाटक" अपने समय के मौलिक नाटकों में विशेष प्रतिष्ठित हैं। इसका गद्य-खण्ड भी बहुत सुन्दर है। किन्तु अभिनय योग्य न होने से इन नाटकों का साहित्यिक मूल्य केवल पाठ्य-पुस्तकों की तालिका में ही रह गया है। काशी के रामकृष्ण वर्मा तथा गोपालराम गहमरी ने उपन्यासों के साथ नाटकों का भी बङ्गला से अनुवाद किया। रायबहादुर लाला सीताराम ने संस्कृत के कई नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी के आधुनिक काल के लेखकों में रूपनारायण पांडेय, नाथूराम 'प्रेमी' आदि कुछ सज्जनों ने बंकिम, द्विजेन्द्रलाल राय गिरीश घोष आदि के नाटकों का अनुवाद किया है। भारतेन्दु काल से ही अभिनय कला की ओर साहित्यक जन आकृष्ट हो चले थे। अतः काशी तथा अन्य स्थानों पर हिन्दी का रङ्गमच भी देखने को मिलने लगा। इन अभिनय-कला की ओर योग्य नाटक-लेखकों में विश्वम्भरनाथ 'व्याकुल' नारायणप्रसाद 'बेताब', राधेश्याम 'कथावाचक,' हरीकृष्ण 'जौहर,' तुलसीदत्त 'शैदा', धनीराम 'प्रेम', बेचनशर्मा 'उग्र', माधव शुक्ल आदि का नाम उल्लेख्य है। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने भी पारसी एल्फ्रेड कम्पनी के लिए नाटक लिखे।

आधुनिक युग के साहित्यिक नाटककारों में जयशंकर प्रसाद, गोविन्दवल्लभ पन्त, बदरीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त प्रसिद्धि-प्राप्त लेखक हैं। प्रेमचन्द और उग्र ने भी नाटक लिखे हैं। भाषा और भावप्रदर्शन की दृष्टि से प्रसाद जी के नाटक उच्च कोटि के हैं। माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' अभिनय और

साहित्यिकता दोनों अङ्गों को पूरा करता है और इस दृष्टि से यह एक अनूठी कृति है। बद्रीनाथ भट्ट का 'दुर्गावती' तथा गोविन्दवल्लभ पन्त का 'वरमाला' रङ्गमञ्च पर भी सफल हुए हैं। सियारामशरण गुप्त ने अभी छोटे-छोटे कई नाटक लिखे हैं। आपका 'पुण्य-पर्व' एक सुन्दर नाटक है। उदयशंकर भट्ट के भी नाटक बुरे नहीं हैं। जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' का 'प्रताप प्रतिज्ञा' वीर-रस का अच्छा नाटक कहा जा सकता है। जर्मन भाषा से अनुवादित 'नातन' नामक नाटक बहुत उच्च कोटि का है। प्रसाद जी का 'ध्रुव-स्वामिनी' उनकी कीर्ति के ही अनुकूल है। कैलाशनाथ भटनागर वीर रस का 'भीष्म-प्रतिज्ञा' लिखकर भी मिलिन्द जी के समकक्ष नहीं हो सके। लक्ष्मीनारायण मिश्र के कई नाटकों ने नाटक-रचना की संख्या वृद्धि की है, किन्तु आपका प्रयास सफल नहीं कहा जा सकता।

टाकीज की वर्तमान प्रभुता के कारण प्रतिक्षण नाटकों की अभिवृद्धि हो रही है। कुछ बड़े साहित्यिक, कम्पनियों के लिए अभिनेय नाटक तैयार करने में लगे हैं। किन्तु जिस प्रकार नितान्त साहित्यिक नाटकों में अभिनेय हो जाने की आशंका रहती है, वैसे ही रङ्गमञ्च पर भी साहित्य का गला खूब घोंटा जाता है।

इधर कुछ दिनों से कहानी का अनुकरण करके एकाङ्की नाटक भी जोर-शोर से लिखे जा रहे हैं। सुमित्रानन्दन पन्त ने काव्यक्षेत्र से मन बदलने के लिए 'ज्योत्स्ना' नामक एक नाटक लिखा है जिसके पात्र मनुष्येतर प्रकृति के सुकुमार प्राणी ही अधिकतर हैं। अब सुना जाता है कि उन्होंने एकाङ्की नाटक भी लिखे हैं। रामकुमार वर्मा ने भी एकाङ्की अभिनय लिखे हैं। प्रसाद जी का "एक घूँट" नामक एकाङ्की नाटक बहुत सफल कहा जा सकता है।

सुलझी हुई बुद्धि की सहेतुक व्याख्या के रूप में अभिव्यक्ति 'प्रबन्ध-रचना' कहलाती है। साहित्य की उन्नति प्रबन्ध-रचना की

उन्नति से ही आँकी जाती है । प्रबन्ध भी कई प्रकार का होता है। विषय की दृष्टि से प्रबन्धों का वर्गीकरण करना मूर्खता है। एक सुई की नोक से लेकर विश्व के विराट् स्वरूप तक, एक प्रबन्ध के विषय हो सकते हैं। अपनी-अपनी रुचि और अपनी-अपनी शक्ति के अनुकूल हम अपने निबन्ध का विषय चयन करते हैं। हमारी निजी शैलियाँ उनमें भेद और उपभेद पैदा कर देती हैं । लेखक का स्वभाव जितना तर्क-सम्पन्न होगा, जितना ही सहृदय होगा उसका प्रबन्ध वैसा ही अच्छा होगा।

निबन्ध लेखक

निबन्ध-रचना का प्रथम आभास हमें भारतेन्दु-काल में मिला । किन्तु उस समय की प्रबन्ध-रचना, गम्भीर गवेषणापूर्ण विषयों पर न होकर साधारण वर्णनात्मक ढङ्ग की होती थी । प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि के लेख्य-विषय रोचक और शैली चमत्कारपूर्ण होती थी। इन निबन्धों से लोगों को विचार-विमर्श का सङ्केत मिला। भाषा का ज्यों ज्यों विकास हो रहा था, उसमें प्रौढ़ता आ रही थी; उसके साथ ही विचार-पद्धति का भी उन्नयन होता गया। विचारों में समीचीनता का प्रकाश हमें सर्वप्रथम महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के समय-समय पर 'सरस्वती' में लिखे निबन्धों में मिला । उनकी 'बेकन-विचार-रत्नावली' तथा गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री का 'निबन्ध-मालादर्श' आदि काल के निबन्ध-संग्रह हैं । ये दोनों निबन्ध-संग्रह, अंगरेज़ी और मराठी से अनुवादित हैं। द्विवेदी जी के लिखे कई लेख-संग्रह निकले हैं । जैसे 'सुकवि-संकीर्तन', 'चरित्र-चित्रण', 'अद्भुत-आलाप' आदि। ये लेख अत्यन्त साधारण विषयों पर लिखे गये हैं, अथच् यह सामग्री मनन-शील नहीं है।

माधवप्रसाद मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त की निबन्ध-रचना का हम अन्यत्र उल्लेख कर चुके हैं। माधवप्रसाद मिश्र अपने समय के विद्वान और उत्कृष्ट निबन्ध-लेखक थे। बालमुकुन्द गुप्त के 'शिव-

शम्भु का चिट्ठा' की भाषा में भी परिष्कृत व्यवहारिकता और शिष्ट-विनोद है। इसी काल में गोविन्दनारायण मिश्र ने काव्यात्मक क्लिष्ट संस्कृत की प्रबलता अपने निबन्धों में दिखायी। बालमुकुन्द गुप्त के सदृश ही जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने भी हास्य-रसात्मक निबन्ध-रचना की है। गोपालराम गहमरी के प्रबन्ध भी अच्छे हैं। वर्तमान हिन्दी के गद्य-क्षेत्र में निबन्धों का सम्यक् उन्नयन हुआ। अनेकानेक विभिन्न विषयक लेख आज हमारी नित्य-प्रति की पाठ्य-सामग्री का सृजन करते हैं। गद्य के इस अंग की न्याय-पूर्ण विवेचना, हमें भय है, इस स्थान की सीमा का अतिक्रमण कर देगी। आज-कल के कुछ सुप्रसिद्ध लेखकों में रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, वियोगीहरि, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, रामनरेश त्रिपाठी, पीताम्बरदत्त बड़-थ्वाल, रामशंकर शुक्ल 'रसाल', बालकृष्ण शर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी इत्यादि इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं।

अन्य भाषाओं के सम्पर्क से, और भारतवर्ष के शिक्षित नवयुवकों में गम्भीर चिन्तना का स्वभाव उत्पन्न हो जाने के कारण, अब लोगों की रुचि हलके और साधारण प्रबन्धों से हटकर गम्भीर विषयों के लिखने की ओर अग्रसर हुई है। परन्तु प्रत्येक गहरा प्रबन्ध गद्यकाव्य नहीं है। कविता से विश्राम लेकर, कवि अवकाश में गद्य-काव्य की सृष्टि करता है। बालकृष्ण शर्मा सदृश विद्वान और भावुक युवकों ने साधारण विषयों पर गद्य-काव्य लिखने का प्रयास किया, किन्तु वे हलके न रहकर बड़े गहरे, दार्शनिक और आध्यात्मिक कृतियाँ बन गये हैं।

गद्य-काव्य

कविता में गद्य लिखने की परिपाटी यद्यपि इस युग की नितान्त नयी चीज़ है, तो भी जितना अधिक कविता में गद्य आज-कल लिखा जाता है, उतना पहले कभी नहीं देखा गया। इस क्षेत्र में माखनलाल चतुर्वेदी सर्व-श्रेष्ठ हैं। अन्योक्तिमय बहुत से गद्यखण्ड रामकृष्ण दास ने

लिखे हैं और वे साधारणतया सुन्दर हैं। मोहनलाल महतो, बालकृष्ण शर्मा तथा अन्य अनेक लेखक इस क्षेत्र में लिख रहे हैं। वियोगी हरि इस क्षेत्र के बहुत पुराने लेखक हैं, परन्तु उनका विषय केवल अध्यात्म और भक्ति है। कवितामय गद्य-लेखकों पर रवीन्द्रनाथ तथा उनकी गीताञ्जलि का बहुत गहरा प्रभाव है। केवल माखनलाल चतुर्वेदी अपनी उद्भावना में मौलिक हैं। इधर वृन्दावनलाल वर्मा की भी वृत्ति इस ओर झुकती देख पड़ती है। छोटे-छोटे टुकड़ों के अतिरिक्त कवितामय गद्य में एक बड़ा अन्योक्तिमय ग्रंथ भी देखने में आया है जो अपने विषय, भाषा और अभिव्यञ्जना में पूर्णरूप से मौलिक है।

आलोचना

साहित्यिक अपनी निधि बेचा ही नहीं करता, दूसरों की ख़रीदता भी है। वह न्याय की उपेक्षा ही नहीं करता, न्याय करने की चेष्टा भी करता है। प्रत्येक व्यक्ति में दो प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। वह आनन्द देता है और आनन्द लेता भी है। इस देन-लेन में कला और समीक्षा दोनों की सृष्टि होती है। 'देन' के मूल तत्व में कला और लेन के मूलतत्व में समीक्षा के दर्शन होते हैं। कला के सम्यक् ज्ञान की सच्ची स्फूर्ति समीक्षा है। असत् समीक्षाकार कला को अपमानित करके भगवान के समक्ष पाप करते हैं। समीक्षा का उद्देश्य सहानुभूति के साथ ग्रन्थ का पढ़ना है। किसी प्रकार का पक्षपात लेकर आलोचना-क्षेत्र में उतरना अपनी बुद्धि का दिवालियापन घोषित करना है। जो समीक्षक पुस्तक के छिपे हुए गुणों को खोलकर सामने नहीं रख सकता, वह समीक्षक बनने के योग्य नहीं। केवल दोषों को ही दिखाने लगना घिनौनी वृत्ति का परिचय देना है। गन्दी मक्खी की भाँति यह प्रवृत्ति दूषित ही कही जायगी। सफ़ाई के दरोग़ा की नासिका नालियों का छिपा हुआ गन्दापन भले ही ताड़ ले, परन्तु सुन्दर बग़ीचे की स्वर्गीय-आमोद की प्रशंसा करने की उसकी क्षमता नष्ट हो जाती है।

गोस्वामी जी कहते हैं—

निज कवित्त केहि लाग न नीका,
सरस होइ अथवा अति फीका।
जे पर-भणित देखि हरसाहीं,
ते नरवर थोरे जग माहीं।

इस चौपाई में आलोचना की समीक्षा नहीं की गयी है, केवल पक्षपात से बचने के लिए सङ्केत किया गया है। किसी भी ग्रन्थ में कितनी ही छपाई की अशुद्धियाँ मिल सकती हैं, कितनी ही लाक्षणिक भूलें भी मिल सकती हैं, परन्तु उस पुस्तक में क्या कोई ऐसी बात है जो अपना सच्चा मूल्य रखती है, वास्तव में सच्चे समीक्षक को देखना यही है। प्रतिष्ठित और कीर्तिसम्पन्न लेखकों के प्रति अश्रद्धा और घृणा करना आलोचना के नाम को कलङ्कित करना है।

आलोचना का इतिहास साहित्य के इतिहास में काफ़ी पुराना है। हिन्दी में आलोचना का सूत्रपात पद्मसिंह शर्मा और मिश्र-बन्धुओं ने किया, और बहुत से प्राचीन लेखकों ने यह परिपाटी स्थिर रक्खी। आलोचना के कई विधान इस समय प्रचलित हैं। साहित्य के इस दल में जितने अधिक अनधिकारी प्रविष्ट हुए हैं, उतने अन्य किसी दल में नहीं हैं। लोग परस्पर अपना वैर-भाव और दलबन्दी का बदला आलोचना की आोट में निकालते हैं।

हिन्दी में समालोचना, भारतेन्दु के समकालीन बदरीनारायण 'प्रेमघन' के समय से दिखायी देती है। उनके पत्र 'आनन्द कादम्बिनी' में श्रीनिवासदास ने 'संयोगिता स्वयम्वर' की एक अच्छी आलोचना की है। 'कालिदास की निरंकुशता' लिखकर, महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'विक्रमाङ्क-देवचरित्र' और 'नैषध-चरित्र चर्चा' दो समीक्षाएँ की हैं। ये समीक्षाएँ प्रारम्भिक युग की प्रेरणा के नाते आदरणीय हैं। मिश्र-बन्धुओं ने हिन्दी कवियों की सर्वप्रथम 'हिन्दी नवरत्न' में आलोचनाएँ कीं। यह उनका एक बड़ा भारी ग्रन्थ है।

पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक आलोचना के नाम पर कविवर बिहारी के ऊपर एक बड़ा भारी ग्रन्थ तैयार किया है। यह आलोचना आभ्यंतरिक न होकर बाह्य तथ्यों पर आश्रित है। कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' तथा 'मतिराम' पर लिखी गयी आलोचनाएँ, कवि की अन्त-र्प्रवृत्तियों की उपेक्षा नहीं करतीं, अतएव वे अच्छी हैं। इनके आलोच-नात्मक प्रबन्ध बड़े हो गये हैं और पुस्तक के रूप में दिखायी पड़ते हैं।

इस युग के सर्वश्रेष्ठ समालोचक रामचन्द्र शुक्ल हैं। उनकी आ-लोचना में केवल गुणदोष का ही कथन नहीं है; उन्होंने पूर्वीय और पश्चिमीय समालोचना-सिद्धान्त का अच्छा समन्वय किया है। उन्होंने कवियों की अन्तर्दृष्टि की प्रवृत्ति और प्रेरणा का बड़ी सहानु-भूति से अनुशीलन किया है। आपकी 'जायसी' और 'तुलसी' की समालोचनाएँ बढ़कर पुस्तकाकार होगयी हैं, परन्तु सूर के ऊपर लिखी हुई आलोचना एक अच्छा प्रबन्ध है। आजकल शुक्ल जी की आ-लोचना-परिपाटी के बहुत से अनुयायी हो गये हैं और उनकी लेखनी से हिन्दी के कीर्तिमान लेखकों और कवियों पर बहुत सुन्दर और तत्वपूर्ण समालोचनाएँ निकल रही हैं। डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल और नन्ददुलारे वाजपेयी, शुक्लजी की परिपाटी के पृष्ठपोषक हैं।

कुछ काल पहले प्रयाग के रघुपतिसहाय ने हिन्दी-जगत के समक्ष अच्छी समालोचनाएँ लिखने का आदर्श खड़ा किया था। इनकी समा-लोचनाएँ समय-समय पर समाचार-पत्रों में निकलतीं थीं। प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' के ऊपर इन्होंने कई लेखों में एक ऐसी मार्मिक समालोचना लिखी थी जिससे उनकी कीर्ति अमर होगयी है। यह दुःख की बात है कि ऐसे समालोचकों ने आज हिन्दी से विश्राम ग्रहण किया है।

मायाशङ्कर याज्ञिक की 'रहीम की कविता', और भगवानदीन के 'देव और बिहारी' के झगड़े के लेख भी समालोचना के नाम से पुकारे जाते हैं। 'सूरपञ्चरत्न', 'केशवपञ्चरत्न,' 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम,'

और 'दोहावली' पर भगवानदीन ने सँभल कर लिखा है, और वह अच्छा है। वैसे उनकी टीकाएँ और भाष्य, मनमाना मूल-संशोधन करके या तो 'वाह वाह' ढङ्ग स्वीकार करते हैं या केवल अर्थ दे देते हैं। श्यामसुन्दरदास की 'कबीर-ग्रन्थावली' भी अच्छी समालोचना है। राजबहादुर लमगोड़ा के लेखों में से यदि भावुकता निकाली जा सके तो वे समालोचना के अच्छे उदाहरण हो सकते हैं। रामकृष्ण-शुक्ल की 'प्रसाद की नाट्यकला' और 'आधुनिक हिन्दी कहानियों की भूमिका' अच्छी समालोचनाएँ हैं। रामकुमार वर्मा द्वारा लिखित 'कबीर का रहस्यवाद' अच्छा ग्रन्थ है। 'साहित्यालोचन', 'विश्व-साहित्य', तथा 'हिन्दी साहित्य-विमर्श', डाक्टर गङ्गानाथ झा का 'कवि रहस्य', रमाशङ्कर शुक्ल 'रसाल' का 'आलोचनादर्श', तथा रामकृष्ण शुक्ल का 'कवि जिज्ञासा' अच्छे ग्रन्थ हैं। जनार्दन झा 'द्विज' की 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला' भी सुन्दर पुस्तक समझनी चाहिए।

बनारस के कृष्णशङ्कर शुक्ल की तीन पुस्तकें आलोचना-क्षेत्र में अपना विशेष महत्व रखती हैं। 'केशव की काव्यकला' में कवि केशव की आलोचना है। ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों की एक अलग आलोचना लिखी गयी है। 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास' भी एक अच्छा ग्रन्थ है, यद्यपि लेखक की दृष्टि परिमित है तथापि जहाँ तक उसकी पहुँच है, उसका अङ्कन सहृदयतापूर्ण है। कालिदास कपूर की छोटी पुस्तक 'साहित्य-समीक्षा' से भी पता चलता है कि आलोचना का मर्म वे समझते हैं।

वैसे तो प्रत्येक पत्र-सम्पादक अपने को योग्य समालोचक समझता है, परन्तु कुछ पत्र प्रयत्न करके अच्छी समालोचनाएँ प्रकाशित करते हैं। साप्ताहिक पत्रों में 'कर्मवीर', मासिक पत्रों में 'वीणा', 'विश्वमित्र', 'माधुरी', 'भारती' आदि सद्समालोचना के लिए विख्यात हैं।

कुछ लेखकों की आलोचनाएँ कटुता के कारण अधिक मूल नहीं

रखतीं। कुछ लोग ख्यातनामा साहित्यिकों को नीचा दिखाना ही अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाये हैं।। 'सम्राटों' के विरुद्ध उनका धार्मिक-युद्ध साहित्य की वृद्धि के लिए बहुत उपयुक्त नहीं है। समालोचना-तत्व से अनभिज्ञ कुछ लोग यों ही अपनी लेखनी घिसा करते हैं। इसी प्रकार जयशङ्कर प्रसाद को अपमानित करने की दृष्टि से एक पुस्तक निकली है जिसमें उनके दो नाटकों की कथित समीक्षा की गयी है।

इधर पुण्य-क्षेत्र के एक विद्वान महारथी आलोचना-क्षेत्र में उतरे हैं। उनके लिखने के उबाल को सम्हालने के लिए उनके पास काफ़ी पत्र पत्रिकाएँ हैं। उनके तहलके मचाने वाले लेखों की चरचा करना अप्रासंगिक है। उन्होंने जिस ढंग का अनुकरण किया है वह साफ़-साफ़ सस्ता अखबारी बाज़ारूपन है। उनके लेखों का 'तहलका' मूर्खों के मन में मच सकता है, विद्वानों के निकट उनका कोई विशेष मूल्य नहीं है। थोड़ा सा तथ्य, अधिक भरती, थोड़ी सी बात, अधिक विस्तार—यह तो उनकी शैली है और आलोचना की कटुता में केवल गाली देना ही वे बचा सकते हैं। अच्छे से अच्छे उच्च कोटि के साहित्यिकों पर वे बुरी प्रकार से कीचड़ उछालते हैं। जिस ढंग से वे इस दिशा में बढ़ रहे थे कौन कह सकता है कि उनकी बची हुई शिष्टवृत्ति भी रक्षित रह सकेगी। सम्मानित, लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकारों के प्रति अश्रद्धा का प्रचार करना, अभद्रता ही नहीं, साहित्य के लिए घातक सेवा है।

लक्षण ग्रन्थ

कला का निखरा हुआ स्वरूप कवि है और कला-मर्मज्ञता का निखरा हुआ स्वरूप आचार्य है। हृदय की स्फूर्ति कवि है और चिन्ता की स्फूर्ति आचार्य। जब भावुकता विश्राम लेकर अपने को परोक्ष के लिए समर्पित करती है, तब लक्षण-ग्रन्थों का प्रणयन होता है। एक लक्षण-ग्रन्थकार इतिहासकार के साथ-साथ दार्शनिक भी होता है। मीमांसा के लिए और स्वरूप-निरूपण के लिए दार्शनिकता की बड़ी आवश्यकता है।

हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थकारों में इस दार्शनिकता का अभाव है।

हिन्दी में अभी तक कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं निकला है जो पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक ढंग का हो और जिसमें प्रत्येक प्रकार के पारिभाषिक शब्द की व्याख्या की गयी हो। लक्षण-ग्रन्थों की बाढ़ अवश्य आ गयी है। अलङ्कार, पिङ्गल और रस के बहुत से ग्रन्थ तो संस्कृत से ज्यों के त्यों अनुवाद हैं; कुछ के रचयिताओं ने हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की कृतियों से उदाहरण दिये हैं और कुछ ने अपने निजी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

केशव के समय से तथा उनसे भी पहले भारतीय हिन्दी-साहित्य के युग में जो रीतिकाल हुआ है, उसके अधिकांश कवियों ने अपनी कविता का प्रयोग काव्य-लक्षणों के उदाहरण स्वरूप किया है। उस काल के लेखकों के नाम किसी भी ऐतिहासिक ग्रन्थ में मिल सकते हैं। 'साहित्य-दर्पण की विमला टीका' उक्त ग्रन्थ को समझने के लिए एक अच्छी वस्तु है। कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य-कल्पद्रुम' एक अच्छा ग्रन्थ है। जगन्नाथप्रसाद भानु का 'काव्य-प्रकाश' भी एक लक्षण-ग्रन्थ है। रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'अलङ्कार-पीयूष' और अप्रकाशित 'रस-निरूपण' भी मोटे ग्रन्थ हैं। कुछ समय पूर्व 'वीणा' में किसी अधिकारी सज्जन ने 'अलङ्कार पीयूष' में बहुत सी अशुद्धियाँ दिखायी थीं। उसके प्रकाश में सम्भव है, शुक्ल जी उसका पुनः संस्करण करा दें।

गुलाबराय की "हिन्दी-काव्य में नौ रस" तथा अयोध्या-सिंह उपाध्याय का 'रस-कलश' साधारण पुस्तकें हैं। 'भारतीय-भूषण' नामक अलङ्कार का एक ग्रन्थ अभी देखने में आया है। लाला भगवानदीन का 'अलङ्कार मञ्जूषा' और अध्यापक रामरत्न का 'अलङ्कार-प्रबोध' बहुत दिन से व्यवहृत हैं। इधर कालेजों के पाठ्य-क्रम में सम्मिलित कराने की दृष्टि से बहुत लोगों ने लक्षण-ग्रन्थों के संक्षिप्त संस्करण निकालने शुरू कर दिये हैं। इस दिशा में रामकृष्ण

शुक्ल का "काव्य-जिज्ञासा" निकालने का प्रयास स्तुत्य और सफल है। पिङ्गल-शास्त्र पर भी आप ने इस ग्रन्थ में अच्छा प्रकाश डाला है। परन्तु वह बालकों की ही सामग्री है। बालकों के पढ़ाने के उद्देश्य से ही ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' तथा प्रयाग-निवासी उदीयमान कवि 'सरस' ने पिङ्गल-शास्त्र पर प्रारम्भिक पुस्तकें लिखी हैं।

व्याकरण और भाषा-विज्ञान

जिस मनोभाव की प्रेरणा से लक्षण-ग्रन्थों की सृष्टि होती है, वही मनोभाव व्याकरण और भाषा-विज्ञान की रचना में काम करता है। व्याकरण का गद्य से वही सम्बन्ध है जो लक्षण-ग्रन्थों का कविता से है। कविता की शुद्धता का माप-दण्ड लक्षण-ग्रन्थों के सिद्धान्त हैं और गद्य की शुद्धता के माप-दण्ड व्याकरण के नियम हैं। पद्य का आचार्य लक्षण-ग्रन्थ बनाता है और गद्य का आचार्य व्याकरण। परन्तु इन 'आचार्यों' का काम कलाकार के पीछे रहना है।

हिन्दी-साहित्य में व्याकरण की उपादेयता के सम्बन्ध में बहुत काल से मतभेद चला आ रहा है। कुछ लोग व्याकरण के नियमों को बड़ा आवश्यक मानते हैं और उनकी उपादेयता भाषासुधार के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य मानते हैं। कुछ साहित्यकार इन नियमों को कृत्रिम मानते हैं। इन दोनों मनोभावों का सङ्घर्ष आजतक चला आ रहा है। व्याकरण के नियमों की उपेक्षा करने वाले अग्रगण्य साहित्यिकों में मिश्रबन्धु और माखनलाल चतुर्वेदी हैं।

हिन्दी-व्याकरण का विकास इतिहास की एक मनोरञ्जक घटना है। आदि में लिखे हुए व्याकरण में और आज के व्याकरण में बड़ा अन्तर है। हिन्दी व्याकरण का संस्कृतपना अब क़रीब क़रीब लुप्त हो गया है। अङ्गरेज़ी व्याकरण का उसपर पूर्ण प्रभाव पड़ा है। संस्कृत के कारकों की बहुलता भी अब किसी-किसी व्याकरण में हटा दी गयी है और अङ्गरेजी व्याकरण के आधार पर उनका सङ्गठन किया गया है। 'पद-व्याख्या' करना, 'वाक्प्रथक-करण'

सीधे अङ्गरेजी व्याकरण से ले लिये गये हैं। संज्ञाओं के भेदों में कमी करने का भी कारण अङ्गरेजी व्याकरण है। विराम-चिन्हों के प्रयोग सम्बन्धी सिद्धांतों का स्वीकार भी हिन्दी व्याकरण में अङ्गरेजी व्याकरण के अनुकरण से ही उत्पन्न हुआ है। व्याकरण के संज्ञा शब्दों के नामों की नवीन अवतारणा भी कभी-कभी व्याकरण के नये लेखक अङ्गरेजी व्याकरण के अनुकूल कर लेते हैं।

हिन्दी-व्याकरण की सबसे विलक्षण बात उसका लिङ्ग-भेद है। संस्कृत क्रियाओं का कृदन्त-प्रयोग हिन्दी ने ग्रहण किया, 'तिङान्त' नहीं। इस लिङ्ग-भेद की विलक्षणता के कारण विद्यार्थियों को इसके लिखने-पढ़ने में बड़ी कठिनता उत्पन्न हो गयी है। हिन्दी साहित्य की उन्नति चाहनेवाले व्यक्ति उसके प्रचार को सुगम बनाने के लिए लिङ्ग-भेद को उठा देने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु किसी प्रचलित प्रथा को कोई बनाया हुआ नियम सहसा उठा नहीं सकता।

जब से हिन्दी, शिक्षा का माध्यम स्वीकार हुई और हिन्दी पठन-पाठन की ओर अधिक लोगों का ध्यान गया है, तब से हिन्दी व्याकरण-रचना को भी लोगों ने अधिक अपनाया है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी व्याकरण की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कर व्याकरण लिखने की ओर लेखकों की अभिरुचि उत्पन्न की थी। कामता प्रसाद गुरु सुप्रसिद्ध वैय्याकरण हैं। अङ्गरेजी विद्वान केलाग साहब ने भी हिन्दी का एक मोटा व्याकरण रचा है, लेकिन वह अङ्गरेजी भाषा में है। इधर स्कूलों की पाठ्य-पुस्तकों में समन्वित होने के लिए बहुत से व्याकरण रचे गये हैं। अङ्गरेजी शिक्षा के प्रभाव से अधिकांश व्याकरण अङ्गरेजी ढङ्ग के हैं। इनमें गङ्गाप्रसाद का व्याकरण अच्छा है। कुछ व्याकरण साक्षात प्रणाली के भी बनाये गये हैं और स्कूलों में इनका सम्मान है। घमण्डीलाल शर्मा ने एक अच्छा व्याकरण प्रस्तुत किया है। व्याकरण की पुस्तकों की संख्या अब इतनी बढ़ गयी है और बढ़ती जा रही है कि उनका

नाम लिखना और व्याकरण-लेखकों का परिचय देना असम्भव है।

प्रबन्ध-रचना-विज्ञान की भी अनेक पुस्तकें देखने में आ रही हैं। उनमें अङ्गरेज़ी ढंग की प्रबन्ध-रचना-प्रणाली का विधान समझाया गया है। गंगाप्रसाद, चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद, रामनारायण चतुर्वेदी इत्यादि व्यक्तियों की प्रबन्ध सम्बन्धी पुस्तकें अच्छी हैं। स्वामी सत्यदेव लिखित 'लेखन-कला' भी इसी विषय की एक पुस्तक है।

भाषा-विज्ञान की ओर हिन्दी के लेखकों का ध्यान उस समय गया जिस समय हिन्दी पढ़ने की अभिरुचि अङ्गरेज़ी विद्वानों ने दिखलायी। बहुत से अङ्गरेज़ी विद्वानों ने हिन्दी का अच्छा अनुशीलन कर उसका व्याकरण और उसका भाषा-विज्ञान तैयार किया। इस सम्बन्ध में सर जार्ज ग्रियर्सन का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। मंगलदेव शर्मा, श्यामसुन्दरदास, नलिनीमोहन सन्याल, रामचन्द्र शुक्ल तथा धीरेन्द्र वर्मा, भाषा-विज्ञान के अच्छे पण्डित हैं और इन्होंने 'हिन्दी भाषा-विज्ञान' प्रस्तुत करके हिन्दी की सेवा की है। धीरेन्द्र वर्मा की पुस्तक अभी हाल में ही हिन्दुस्तानी-एकेडमी से निकली है। इसमें ध्वनि विषयक कुछ ऐसे नवीन और मौलिक विचार प्रकट किये गये हैं, जो उसके पहले के ग्रंथों में न थे। इधर कुछ और लेखक भी इस विषय पर लिख रहे हैं। रघुनन्दन शर्मा का 'अक्षर-विज्ञान' एक अच्छी कृति है।

इतिहास साहित्य का नियंत्रित अंग है। वह अतीत का दर्पण है। इतिहासकार के लिए मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों होना आवश्यक है। घटनाओं की तालिका प्रस्तुत करना, उन्हें तिथिवार सजा देना, दफ़्तर के क्लर्कों का काम है। घटनाओं का कार्य-कारण सम्बन्ध, उनकी आवृत्ति और अनावृत्ति, परिस्थिति से उनका जोड़, युगप्रवर्त्तकों के साथ उनका मेल, इन सब और इनसे कहीं अधिक बातों का दार्शनिक, तर्क-संगत, सहेतुक निर्णय भी इतिहास का अङ्ग है। आलोचक की भाँति इतिहासकार का भी सबसे पवित्र कर्तव्य पक्षपात का परित्याग है।

इतिहास

राष्ट्रीयता, जातीयता, व्यक्तित्व अथवा किसी अन्य प्रकार की पक्षपात-पूर्ण निजी प्रेरणा को इतिहास-निर्माण में घुसने न देना चाहिए। निर्णयों से अपने व्यक्ति को ऊपर रखना चाहिए।

अंङ्गरेजी इतिहासकार और उनकी कृतियों का यहां के विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसरों ने खूब अनुशीलन किया है। उनका प्रभाव भी इन पर अच्छा पड़ा है। आज कल हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से भी अच्छे अच्छे इतिहासों की रचना हो रही है। शोध करने की वैज्ञानिक प्रणाली भी हमारे यहाँ के लोग अच्छी प्रकार समझ गये हैं। इतिहास के विद्वानों का यह परम त्याग समझना चाहिए कि वे अपनी कृति अङ्गरेजी में न लिखकर हिन्दी में लिखते हैं। वास्तव में उनकी कृतियों की जो प्रशंसा अङ्गरेजी में हो सकती है वह हिन्दी में नहीं हो सकती।

गौरीशंकर हीराचंद ओझा और उनके अनुयायी

भारतीय इतिहास के सर्व-श्रेष्ठ उन्नायकों में महामहोपाध्याय राय-बहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का नाम सर्वप्रथम लेने योग्य है। 'राजपूताने' के इतिहास का एक बड़ा प्रामाणिक ग्रन्थ बड़ी शोध के साथ इन्होंने कई पुस्तकों में तैयार किया है। 'पृथ्वीराज रासो' के सम्बन्ध में न जाने कितनी भ्रान्ति-पूर्ण धारणाएँ फैली हुई थीं, उनका भी बहुत कुछ निराकरण इनके लेखों ने किया है। ओझाजी की शैली चाहे उतनी सजीव न हो जितनी लोग चाहते हैं, परन्तु वह बड़ी सरल और सुबोध है। हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

मौलिक इतिहास लिखने की इन्होंने एक प्रकार की पद्धति स्थित की है। उनके अनुयायी बहुत हैं। 'मौर्य-साम्राज्य का इतिहास' के लेखक सत्यकेतु विद्यालङ्कार कीर्तिमान इतिहासकार हैं। उसी प्रकार 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' के लेखक जयचन्द विद्यालङ्कार ख्यातिनामा इतिहासकार हैं। इन्होंने और कई ग्रन्थ भी लिखे हैं। मध्यप्रान्त के रायबहादुर हीरालाल भी इतिहास के अच्छे विद्वान थे। उन पर ओझा जी का काफ़ी प्रभाव है। विश्वेश्वरप्रसाद रेऊ ओझा जी के वर्ग के तो नहीं है, परन्तु ये भी राजपूताने का इतिहास लिख रहे हैं।

कुछ हिन्दी-साहित्यानुरागी विश्वविद्यालयों के प्रोफ़ेसरों ने हिन्दी के अच्छे मौलिक इतिहास लिखे हैं। इनमें प्रयाग के डाक्टर ईश्वरी-प्रसाद का नाम सर्व-प्रथम उल्लेखनीय है। उन्होंने पाठ्य-पुस्तकों के लिए कई सुन्दर पुस्तकों का प्रणयन किया है। इनकी भाषा बड़ी सरल और प्रवाहपूर्ण है। रामप्रसाद त्रिपाठी, डाक्टर बेनीप्रसाद तथा लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी भी समय समय पर पुस्तकों और लेखों द्वारा हिन्दी की श्रीवृद्धि करते आये हैं। परन्तु इधर इन महानुभावों की लेखनी ने कुछ विश्राम सा ले लिया है।

अन्य लेखक

जबलपुर के द्वारकाप्रसाद मिश्र का 'हिन्दू जाति का स्वातन्त्र्य प्रेम' एक विशेष दृष्टि-कोण से लिखी हुई बुरी पुस्तक नहीं है। प्रयाग के सुन्दर लाल की 'भारत में अङ्गरेजी राज्य' नामक पुस्तक बड़ी ही खोजपूर्ण और प्रभावपूर्ण है। इस ग्रन्थ की निष्कर्ष-सामग्री से चाहे कोई एकमत न हो, परन्तु यह सबको स्वीकार करना होगा कि ऐसी प्रभावपूर्ण-भावमयी भाषा में लिखा हुआ दूसरा साहित्य-ग्रन्थ हिन्दी में कठिनता से मिलेगा।

कृष्ण बलदेव वर्मा, श्रीनारायण चतुर्वेदी, जयदेवसिंह, अमीरचन्द्र मेहरा, राजेन्द्रकुमार श्रीवास्तव, जनार्दन भट्ट, कालीशङ्कर भटनागर इत्यादि लेखकों ने भी इतिहास लिखे हैं। बैरिस्टर काशीप्रसाद जायस-

वाल, त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन और प्राणनाथ विद्यालङ्कार ने भी साहित्यिक और आर्थिक इतिहास के निर्माण में योग दिया है। कानपुर के रामलाल पांडेय 'आईने अकबरी' का फ़ारसी से हिन्दी में अनुवाद कर रहे हैं। अनुवाद में अधिक उपयोग की आप की टिप्पणियाँ हैं, जो बड़े खोज के साथ लिखी गयी हैं।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास भी बहुत से विद्वानों ने उपस्थित किया है। मिश्रबन्धु, रामनरेश त्रिपाठी, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, रमाशङ्कर शुक्ल 'रसाल', नन्ददुलारे बाजपेयी, मुंशीराम, सूर्यकान्त तथा रमाकान्त त्रिपाठी, जगन्नाथ प्रसाद, कृष्णशङ्कर शुक्ल इत्यादि सज्जनों ने हिन्दी का इतिहास अथवा उसी से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री उपस्थित करके एक बड़ी कमी को पूरा किया है। नये-नये इतिहास-ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, और लेखकों में नये-नये दृष्टिकोण की प्रेरणा उत्पन्न हो गयी है।

इतिहास-साहित्य का एक प्रसिद्ध अङ्ग जीवनी-लेखन है। जीवनी लिखने की परिपाटी पुरानी होती हुई भी हिन्दी के लिए नवीन ही है। जीवनी-लेखन के आदर्श में एक-स्वरूपता

जीवनी-साहित्य

कभी नहीं रही। इस देश के ऋषि-मुनियों ने अपनी जीवनी को लेखनीबद्ध कभी नहीं कराया। नाशमान् और नगण्य मांसपिण्डों का स्थायी इतिहास रखना प्रयोजन-शून्य था। दूसरी ओर कवि और नाटककारों का मस्तिष्क अपनी अद्वितीय प्रतिभा और विद्वत्ता से ऐसा बातुल रहता था कि उनकी कृतियों के आरम्भ में गर्वोक्तियों की भरमार है। इस आत्मश्लाघा की अहङ्कारमय गाथा में जीवनी-तत्व के बहुत कम कण संग्रहीत हो पाते थे, परन्तु फिर भी लपेट में वार्त्ताएँ आ ही जाती थीं।

इतिहास के निर्माण की जब से मनुष्य को चिन्ता हुई, तभी से जीवनी-निर्माण का युग भी आरम्भ हुआ। यह समय हिन्दी के गद्य-साहित्य के परे का है इसीलिए जीवनी-लेखन-क्षेत्र में हिन्दी गद्य को अग्रसर होने

में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। यह सत्य है कि जीवनी लिखने की अथ-श्री इतिहासज्ञों ने ही की, परन्तु इसका विस्तार उनके विस्तार से बढ़ गया। प्रत्येक लिखने वाले व्यक्ति ने अपने श्रद्धास्पद को अमर करने की चेष्टा की। हिन्दी में जीवनियों के कई स्वरूप दिखायी देते हैं।

१—केवल इतिवृत्तात्मक रूप में जन्म-मरण तथा जीवन की अन्य घटनाओं को अङ्कित करनेवाली जीवनियाँ।

२—किसी इतिहास अथवा दूसरे प्रकार के ग्रन्थ में किसी सन्दर्भ विशेष में आयी हुई, आंशिक स्वरूप में नायक को व्यक्त करनेवाली जीवनियाँ।

३—किसी आन्दोलन विशेष को सहायता पहुँचाने वाले किसी विशेष कोण से सँवारी हुई जीवनियाँ।

४—किसी को हेय ठहराने के लिए लिखी हुई जीवनियाँ।

५—तथ्यातथ्य-निरूपण द्वारा नायक का वास्तविक स्वरूप समक्ष रखने वाली जीवनियाँ।

जीवनी लिखने से सर्वथा अनभिज्ञ, केवल चिट्ठी-पत्री को एकत्रित कर देने वाले और प्रत्येक प्रकार की घटना का जमघट उपस्थित कर देने वाले लेखकों की लिखी जीवनियाँ प्रथम कोटि में आती हैं। ऐसी जीवनियों की भरमार है। सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी इसी कोटि की है।

दूसरे वर्ग में साहित्य के इतिहासों में, राजनीति के इतिहासों में, और धर्म के इतिहासों में लिखी हुई जीवनियाँ आती हैं।

राष्ट्रीय, धार्म्मिक, आर्थिक इत्यादि आन्दोलन को सहायता पहुँचाने के लिए कुछ बड़े व्यक्तियों की जीवनियों को विशेष दृष्टिकोण से लिखा गया है। ये तीसरे वर्ग में आती हैं।

चौथे वर्ग की जीवनियों की बहुलता तो नहीं है, परन्तु नितान्त अभाव भी नहीं है। इनका सृजन दलबन्दियों के कारण हुआ है।

पाँचवें वर्ग की जीवनियाँ वास्तव में उच्चकोटि की साहित्यिक निधि

हैं; परन्तु अभी बहुत कम ऐसी जीवनियाँ हैं। लोगों की अभिरुचि अब अच्छी जीवनियों के लिखने की ओर बढ़ रही है।

ईसा मसीह, मुहम्मद, गौतमबुद्ध, कृष्ण, राम, इत्यादि इत्यादि विभूतियों की एक नहीं, सैकड़ों जीवनियाँ मिलेंगी। सब बड़े राजनैतिक नेता और साहित्यिक महारथी, धर्मप्रवर्तक तथा उन्नायक, जातिसुधारक और व्यापार-शिरोमणि, विशिष्टवैज्ञानिक तथा अद्वितीय कलाविद्, अनुपम कलाकार तथा धनकुबेर, जाति-सङ्गठन-कर्त्ता, तथा निर्भीक योद्धा, प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ तथा कुशल सम्पादक इत्यादि इत्यादि, सभी ख्यातनामा व्यक्तियों की जीवनियाँ हिन्दी में उपस्थित हैं। किसी सभा का कोई सभापति हुआ नहीं कि चित्र के साथ उसकी जीवनी समाचार-पत्र में निकल गयी।

इधर आत्म-कथाओं के लिखने की परिपाटी चल निकली है। वास्तव में एक निश्छल और निष्कपट व्यक्ति की आत्म-कथा से प्रमाणित दूसरे की जीवनी नहीं हो सकती। महात्मा गान्धी की लिखी हुई हिन्दी में अनुवादित उनकी आत्म-कथा हिन्दी की अच्छी वस्तु है। इधर प्रेमचन्द जी ने 'हंस' पत्र का आत्म-कथाङ्क निकाल कर कुछ अच्छे साहित्यिकों की आत्मकथाएँ तथा संस्मरण संग्रहीत कर लिए हैं। रमाकान्त त्रिपाठी ने 'प्रताप-पीयूष' नामक पुस्तक में स्वर्गीय प्रतापनारायण मिश्र की जीवनी में उनकी कृतियाँ दे दी हैं। परन्तु इस ग्रन्थ में जीवनी का अंश बहुत कम हैं और वह बायें हाथ से लिख दिया गया है।

बालकों पर प्रभाव डालने के लिए अच्छी अच्छी कहानियाँ सरल साहित्य में लिखी जा रही हैं। बालकों के पत्रों को छोड़कर, कुछ अन्य साहित्य-सेवी भी ऐसी जीवनियाँ लिखवा रहे हैं और लिख रहे हैं। प्रयाग के केदारनाथ गुप्त ऐसे ही उत्साही सज्जनों में हैं। बालचर-संस्था इस ओर काफ़ी योग दे रही है। स्कूल से लेकर कालेजों तक अपाठ्य और पाठ्य पुस्तकों के लिए बहुत सी सुन्दर-सुन्दर

जीवनियाँ लिखी गयी हैं और लिखी जा रही हैं। योग्य महिलाओं की भी जीवनियाँ निकल रहीं हैं। समाचारपत्रों से इस दिशा में बड़ी सहायता मिलती है। वास्तव में नीर-क्षीर विवेकी, विज्ञ इतिहास-लेखकों की लेखनी से लिखी हुई जीवनियाँ उच्च कोटि की हैं और उनपर विश्वास किया जा सकता है। हिन्दी संसार अब जीवनी-निर्माण के महत्व और उसके मर्म को थोड़ा बहुत समझ गया है।

भारतीय विद्वानों में डाक्टर भगवानदास का स्थान बहुत ऊँचा है। परन्तु खेद है कि उनकी प्रगति अङ्गरेजी में ही अधिक पुस्तकें लिखने की रही है। कुछ लेख और कुछ वक्तृताएँ उनकी हिन्दी में भी मिलती हैं परन्तु उनके बल पर कोई अधिक समीक्षा नहीं की जा सकती। इधर उन्होंने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया है और 'समन्वय' नाम की उनकी पुस्तक 'दर्शन' की अमूल्य चीज है। डाक्टर साहब की शैली का विस्तार बड़ा व्यापक होता है, यद्यपि वह बिलकुल गठा हुआ होता है। वाक्यों की विशालता गुथी हुई उलझी परिपाटी का अनुसरण करती हुई बोझ लिये हुए आगे बढ़ती है। ऐसी शैली अन्य किसी भी दर्शन-लेखक की नहीं है।

दर्शन और तर्कशास्त्र

डाक्टर गङ्गानाथ झा, ध्रुव साहब, महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा इत्यादि की कृतियों की शैलियाँ बिलकुल सुबोध और छोटे छोटे वाक्यों पर आश्रित हैं। गङ्गाप्रसाद उपाध्याय अपेक्षाकृत कुछ कठिन लिखते हैं। आज हिन्दी में संस्कृत के सारे दर्शनशास्त्र तथा अन्य प्रकार का दार्शिनिक साहित्य अच्छी भाषा में अनुवाद हो चुका है और हो रहा है। अङ्गरेजी और यूनानी दर्शन-ग्रन्थों का अनुवाद भी मिलता है।

स्वर्गीय लाला कन्नोमल का स्थान हिन्दी में दर्शन विषयक सामग्री प्रस्तुत करने में बहुत ऊँचा है। उन्होंने अकेले ही हिन्दी की बड़ी कमी को पूरा किया है। 'उपनिषद्-रहस्य', 'गीता-दर्शन', 'साहित्य-संगीत-निरूपण', 'हर्बर्ट स्पेन्सर की ज्ञेय मीमांसा', 'अज्ञेय मीमांसा', 'सप्त

भङ्गी नय', 'जन तत्व मीमांसा', 'बौद्ध दर्शन', 'योग दर्शन', 'न्याय दर्पण', 'वैशेषिक दर्पण' आदि उनकी थोड़ी सी पुस्तकें हिन्दी के लिए उपयोगी सिद्ध हुई हैं। उनकी शैली मधुर और प्रसाद-युक्त है। उनके अन्य ग्रन्थ जैसे 'भारतवर्ष के धुरन्धर कवि', 'सामाजिक सुधार', 'बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र', 'संसार को भारत का सन्देश', 'धौलपुर नरेश और धौलपुर राज्य' इत्यादि की भाषा अपेक्षाकृत कठिन, कुछ शिथिल और अनगढ़ है। इन्होंने व्याकरण भी लिखे हैं और लगभग सत्रह ग्रन्थ अङ्गरेज़ी में भी लिखे हैं। कन्नोमल ने अकेले ही हिन्दी साहित्य में दर्शन पुस्तकों का ढेर लगा दिया है, इनसे उनका नाम अमर रहेगा।

लाला कन्नोमल

तर्कशास्त्र की ओर भी गुलाबराय का ध्यान बहुत दिनों से आकृष्ट है। आपने पूर्वीय और पश्चिमीय तर्कशास्त्रों का समन्वय करने का प्रयास किया है। इस दिशा में इनके तथा अन्य लेखकों के लेख तथा उनकी पुस्तकें भी निकल रही हैं। इंटरमीडियेट का माध्यम हिन्दी जिस समय से स्वीकार हो जायगा उस समय से अच्छे अच्छे ग्रन्थ देखने में आने लगेंगे।

अर्थशास्त्र, व्यापार और भूगोल

भौतिक सभ्यता के विकास के साथ साथ 'पेट विज्ञान' की उन्नति होना स्वाभाविक है। विश्वविद्यालयों के छात्रों और अध्यापकों को अङ्गरेज़ी पुस्तकों के पठन-पाठन का पूर्ण अवकाश मिलते ही उनमें, अपनी भाषा में, अर्थशास्त्र विषयक सुन्दर ग्रन्थों के लिखने की प्रेरणा उत्पन्न हुई। यह प्रेरणा कुछ दिनों तक अङ्गरेज़ी भाषा के आधिपत्य के कारण दबी रही, परन्तु बाद में लोगों ने सङ्कोच का परित्याग करके पुस्तकें लिखना आरम्भ किया। आरम्भिक पुस्तकें तो अनुवाद सदृश ही हैं; उनमें नवीनता का बहुत कुछ अभाव है; परन्तु बाद की पुस्तकों में मौलिकता का स्वरूप दिखायी देता है। तभी से हिन्दी में अर्थशास्त्र की सामग्री

अच्छी मात्रा में तैयार हो रही है। अर्थशास्त्र में ग्रन्थ भी लिखे गये हैं और लेख भी लिखे जा रहे हैं। डाक्टर प्राणनाथ विद्यालङ्कार, भगवानदास केला, जी. एस. पथिक प्रभृति विद्वानों ने अर्थशास्त्र की ओर ध्यान देने के साथ साथ उद्योग-धन्धों और व्यापार सम्बन्धी ज्ञान की पुस्तकें भी लिखी हैं। श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, रामनिधि, तथा कन्हैयालाल गोयल, 'अर्थशास्त्र ग्रन्थावली' के सम्पादक प्रयाग के दयाशंकर दुबे जैसे कुछ विश्वविद्यालयों के प्रोफ़ेसरों ने इस दिशा में लिखना पढ़ना आरम्भ कर दिया है। प्रोफ़ेसर राधाकृष्ण की 'भारत की साम्पत्तिक अवस्था' एक अच्छी पुस्तक है। यदि इण्टर-मीडियट का माध्यम हिन्दी हो गया तो इस विषय में अच्छी अच्छी पुस्तकें देखने में आ जायँगी।

यही बात भूगोल के लिए भी है। अभी तो भूगोल सम्बन्धी जितनी अच्छी पुस्तकें हैं वे सब अङ्गरेज़ी में हैं। ऊपरी कक्षाओं के छात्र उन्हीं के सहारे पढ़ाये जाते हैं। भूगोल सम्बन्धी अच्छे मौलिक लेख 'भूगोल' नामक पत्र में दिखायी देते हैं। रामनारायण मिश्र इस क्षेत्र में अच्छा उद्योग कर रहे हैं। उनकी लेखनी की, तथा कुछ और अध्यापकों द्वारा लिखी हुई अच्छी-अच्छी मौलिक पुस्तकें भी देखने में आयी हैं। इधर प्रलयङ्कारी भूकम्प के आने के बाद भूगोल सम्बन्धी अच्छे अच्छे लेख निकले हैं। गणित-भूगोल, ज्योतिष-भूगोल, खगोल, पाताल, भूगर्भतत्व इत्यादि इत्यादि विषयों पर अच्छे अच्छे लेख निकल रहे हैं और पुस्तकें लिखी जा रहीं हैं। 'सूर्य-सिद्धान्त' और 'सौर्य-परिवार' नामक सुन्दर पुस्तकें खगोल-शास्त्र के अनुपम रत्न हैं।

भ्रमण और विवरण सम्बन्धी लेख तथा पुस्तकें भी हिन्दी में लिखी गयी हैं। काशी के शिवप्रसाद की 'पृथिवी प्रदक्षिणा', प्रेमचन्द्र जोशी के युरोप सम्बन्धी 'मेरी डायरी के कुछ पृष्ठ', श्रीराम शर्मा के 'शिकार के अनुभव', कौशिक जी द्वारा लिखित 'संसार की

स्त्रियाँ', स्वामी सत्यदेव के भ्रमण-सम्बन्धी लेख, काशी के दो प्रोफ़ेसरों द्वारा लिखी हुई उनकी युरोप चरचा, सेण्ट निहालसिंह के हिन्दी में अनुवादित भ्रमण-सम्बन्धी लेख, भूमण्डल की जानकारी के लिए अच्छी वस्तुएँ हैं।

धार्मिक तथा राजनीतिक साहित्य

धार्मिक मनोभाव भारतवर्ष का चिरन्तन स्थायीभाव है। भारतवर्ष का सारा इतिहास धार्मिक उत्पीड़नों से भरा हुआ है। धार्मिक क्रान्ति ने असहिष्णुता दिखायी है। रक्तपात हुए हैं और भाषा बनी-बिगड़ी है। राजनीति का स्वरूप भी इस देश में लगभग वैसा ही रहा है। गद्य साहित्य का माध्यम भी धर्म और राजनीति के प्रचार में प्रयुक्त हो चुका है।

धार्मिक-साहित्य का उदय बहुत पूर्व हो चुका था। संस्कृत के धर्म-ग्रन्थों का खूब अनुवाद हुआ और हो रहा है। मनुस्मृति-नीति और वैराग्यशतक, गीता, महाभारत, रामायण तथा स्मृतियाँ और संहिताएँ सभी हिन्दी में मिलती हैं। गोवरधनदास की 'नीति-विज्ञान' एक अच्छी पुस्तक है। लक्ष्मीधर बाजपेयी, चतुर्वेदी द्वारका-प्रसाद आदि विद्वानों ने धर्म सम्बन्धी सरल ग्रन्थ लिखे हैं। इधर सनातनधर्म के स्तम्भ स्वामी दयानन्द ने भी कई धार्मिक ग्रन्थ हिन्दी में लिखकर उसकी श्री-वृद्धि की है। आपके ग्रन्थ अनुपम और शैली मार्मिक और प्रभावशालिनी होती है। बङ्गाली होने पर भी श्री स्वामी जी का हिन्दी पर अद्भुत अधिकार है। इधर अछूत आन्दोलन के खण्डन-मण्डन में हिन्दी में अच्छे लेख निकल रहे हैं। महात्मा गान्धी का 'हरिजन' पत्र भी वियोगी हरि की सहयोगिता से अच्छे-अच्छे लेख लिखने में सफल हुआ है।

राजनीतिक लेखकों का इस युग में साम्राज्य दिखायी देता है। देश की परिस्थिति ही ऐसी है कि राजनीति, विद्वानों के लिए विशेष महत्व रखती है। वास्तव में हिन्दी की जो कुछ भी उन्नति इस

युग में हुई है, उसका बहुत कुछ श्रेय यहाँ की राजनीतिक परिस्थिति को है। आज कल जितने परिमाण में राजनीतिक प्रबन्ध और कविताएँ निकलती हैं, उतना अन्य सारा साहित्य मिलकर भी कदाचित ही हो। कुछ बड़े बड़े प्रतिभासम्पन्न लेखक समाचार-पत्रों में राजनीतिक लेख लिखते हैं। बाबूराव विष्णुराम पराड़कर, लक्ष्मण नारायण गर्दे, शिवपूजन सहाय, अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, प्रोफ़ेसर इन्द्र, रमाशङ्कर अवस्थी, वेंकटेशनारायण तिवारी, माखनलाल चतुर्वेदी, द्वारकाप्रसाद मिश्र, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, कृष्णकान्त मालवीय, सम्पूर्णानन्द, श्रीप्रकाश, दशरथ प्रसाद द्विवेदी, बालकृष्ण शर्मा, सुन्दरलाल इत्यादि महानुभाव बड़े सिद्धहस्त लेखक हैं। स्वर्गीय गणेशशङ्कर विद्यार्थी राजनीतिक लेख लिखने में बेजोड़ थे।

इन महानुभावों की अपनी अपनी निजी शैली है। पालीवाल की शैली में उग्रता है। बालकृष्ण शर्मा की लेखनी इस क्षेत्र में बड़ी तीव्र चलती है। रमाशङ्कर अवस्थी एक विनोदपूर्ण व्यंगात्मक लेखक हैं। बहुत से विद्वानों ने राजनीतिक दृष्टिकोण से पुस्तकें भी लिखी हैं। मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव्य की साम्राज्य-वाद एक अच्छी पुस्तक है।

विज्ञान

इतिहास-लेखकों ने हिन्दी के विज्ञान-साहित्य की यथेष्ट चर्चा नहीं की। वास्तव में हिन्दी के इतिहास-लेखकों का, गद्य और पद्य के काव्य-साहित्य से ही अधिक उलझाव रहा। इससे शेष बची हुई अभिरुचि, शैली-विवेचना में व्यय कर दी गयी। एक साहित्य और इतिहास-प्रेमी वैज्ञानिक विषयों से अधिकतर उदासीन रहता है। अतएव उन विषयों पर निकले हुए लेख अथवा पुस्तकों का उसे बहुत कम पता रहता है। ऐसी दशा में संकुचित जानकारी के लिए वह दया का पात्र है, परन्तु इसी क्षमा-याचना के कारण वह अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकता। हिन्दी-साहित्य के किसी भी अङ्ग की उन्नति

की, एक सच्चा इतिहास-लेखक उपेक्षा नहीं कर सकता।

अब वह समय आ गया था जब अँगरेज़ी भाषा में वैज्ञानिक साहित्य की दिनोदिन होने वाली उन्नति देखकर कुछ हिन्दी-प्रेमियों के मन में यह विचार उठने लगे थे कि हिन्दी द्वारा वैज्ञानिक विषयों के ज्ञान का प्रचार सुलभ, शीघ्र और प्राकृतिक होगा। इन मनचले साहित्यिकों को इस विषय की सारी कठिनाइयों का ही अनुभव नहीं था वरन् वे उन लोगों के मज़ाक़ की भी उपेक्षा करते थे जिनकी राय में विज्ञान जैसी नियत और नियमित विद्या का प्रचार भारतीय भाषाओं द्वारा होना असम्भव था।

विज्ञान परिषद् प्रयाग

अपनी इसी लगन को कार्य रूप में परिणत करने के लिए प्रयाग में अप्रैल १९१४ में विज्ञान परिषद् स्थापित हुई और 'विज्ञान' पत्र का सम्पादन प्रारम्भ किया गया। इसके प्रधान सम्पादक डा० गंगानाथ झा, पं० श्रीधर पाठक, तथा राय बहादुर लाला सीताराम बनाये गये। इस समय विज्ञान के प्रमुख लेखकों में रामदास गौड़, डाक्टर बी० के० मित्र, महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, प्रेमवल्लभ जोशी, निहाल करण सेठी, गोपाल स्वरूप भार्गव, गंगाशङ्कर पंचौली, डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा, गोपाल नारायण सेन सिंह, शङ्करराव जोशी, सालिगराम भार्गव तथा शालिग्राम वर्मा मुख्य थे। विज्ञान-परिषद् ने रामदास गौड़ और सालिगराम भार्गव की 'विज्ञान-प्रवेशिका भाग १' महावीर प्रसाद श्रीवास्तव की 'विज्ञान-प्रवेशिका भाग २' प्रेमवल्लभ जोशी का 'ताप', तथा सालिगराम भार्गव का 'चुम्बक' नाम के ग्रन्थ प्रकाशित किये।

इन ग्रन्थों का अधिक भाग 'विज्ञान' में लेखों के रूप में प्रकाशित हो चुका था। इसी बीच में निहालकरण सेठी ने प्रकाश-सम्बन्धी, शालिग्राम वर्मा ने ध्वनि-शास्त्र-सम्बन्धी, तथा सालिगराम भार्गव ने विद्युत-शास्त्र-सम्बन्धी लेख-मालाएँ प्रकाशित करायीं, परन्तु कई वर्षों

की है, वे हमारी विशेष कृतज्ञता के भाजन हैं। उनका कार्य बड़ा ही दुस्तर रहा है और है। उन्हें अपनी अभिव्यक्ति में उतनी स्वतन्त्रता नहीं है जितनी साहित्य के अन्य स्वरूपों की अभिव्यञ्जना में है। उनकी सब से बड़ी कठिनाई वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों का अनुवाद करना है। इस सम्बन्ध में अभी तक हिन्दी-प्रेमी विज्ञान-वेत्ताओं में दो दल रहे हैं। कुछ सज्जनों ने जिनमें 'विज्ञान' पत्र के सम्पादक श्री सत्यप्रकाश जी विशेष उल्लेखनीय हैं, यही ठीक समझा कि विज्ञान के पारिभाषिक शब्द संस्कृत धातुओं और शब्दों से गढ़ लेना चाहिए, जिससे हिन्दी की आत्मीयता नष्ट न हो। दूसरी ओर विज्ञान के धुरन्धर विद्वान और हिन्दी में विज्ञान विषयक मौलिक लेखक, डाक्टर निहालकरण सेठी पारिभाषिक शब्दों को ज्यों का त्यों हिन्दी में सम्मिलित करने के पक्ष में थे। दूसरे वर्ग का मत आजकल प्रधानता पा रहा है।

झाँसी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर विज्ञान-परिषद् के मञ्च से सभापति हीरालाल खन्ना का भाषण भी निहालकरण सेठी के ही मत का समर्थन करता है। अङ्गरेज़ी पारिभाषिक शब्दों को ज्यों का त्यों हिन्दी में सम्मिलित कर लेने से हिन्दी में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता स्थापित होती है। इस लाभ के समक्ष हिन्दी सी जीवित भाषा के लिए, आत्मीयता की आड़ में सङ्कीर्णता का प्रचार करना, सङ्कुचित भावना को आश्रय देना है। इस सम्बन्ध में हीरालाल खन्ना ने क्या कहा है, उसकी ओर सङ्केत कर देना यहाँ आवश्यक है।

"वे किसी भी भाषा के शब्द नहीं। इस पर किसी भी जाति का कोई विशेष अधिकार नहीं है। इङ्गलैण्ड, फ़्रान्स, जर्मनी, अमेरिका और यहाँ तक कि जापान में भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग होता है। ये शब्द अन्तर्जातीय हैं। इनके प्रयोग से किसी भाषा का अपमान नहीं समझा जाता और न किसी के स्वाभिमान में किसी प्रकार का फ़र्क़

आता है। विद्वानों का जो कुछ निर्णय हो वह हम सबको मान्य होना चाहिए। इस सम्बन्ध में उनके सम्मुख मैं दो बातें रखना चाहता हूँ। वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों का निर्माण राष्ट्रीय दृष्टि से होना चाहिए। विविध प्रान्तों और भिन्न संस्थाओं की सहकारिता के बिना राष्ट्रीय विज्ञान का आदर्श, स्थापित और पूर्ण होना कठिन है। संसार के सब देशों में सहकारिता से ही ज्ञान की वृद्धि हुई है और हमारे देश में भी इसके बिना काम न चलेगा। वैज्ञानिक भाषा का मुख्य भाग पारिभाषिक शब्दों का ही होता है। अतएव राष्ट्रीय दृष्टि से यह परमावश्यक है कि प्रान्तीय भाषाओं के वैज्ञानिक शब्द एक से हों। पारिभाषिक शब्दों की एकता के कारण समस्त देशीय भाषाओं में वैज्ञानिक पुस्तकों का समझना और अनुवाद करना बड़ा सरल हो जायगा। अभी तक किसी भी भारतीय भाषा का वैज्ञानिक साहित्य प्रौढ़ता को प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिए ऐसी अवस्था में पारिभाषिक शब्दों को एक सा बनाने का प्रयत्न करना उचित ही प्रतीत होता है।"

विज्ञ सभापति ने अपने इस मन्तव्य को कार्य रूप में परिणत करने के लिए अपने वक्तव्य में एक व्यावहारिक सलाह भी दी है। वास्तव में यदि हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों में राष्ट्रीयता या अन्तर्राष्ट्रीयता का ध्यान न रक्खा गया तो अध्यापकों और विद्यार्थियों के मध्य केवल एक विशेष कठिनाई ही न उपस्थित होगी, वरन् विज्ञान के प्रचार में एक बड़ी भारी रुकावट पड़ जायगी। यदि हिन्दी साहित्य-लेखक 'थर्मामीटर' के लिए 'तापमापक-यन्त्र' और उर्दू साहित्य-लेखक 'मिकयासुल-हरारत' लिखने लगें तो बेचारे अध्यापक और विद्यार्थियों में भाषा सम्बन्धी वही अस्तव्यस्तता दिखायी देगी जो बेबीलोनिया के आकाश-चुम्बी स्तम्भनिर्माण के समय राज और मजदूरों में प्रविष्ट हो गयी थी।

हिन्दी के सभी विज्ञान-साहित्य लेखक इस बात में एकमत हैं कि वैज्ञानिक पुस्तकों की भाषा सरल और सुबोध होनी चाहिए,

और विज्ञान के जटिल स्वरूपों को व्यवहार की प्रयोगात्मक-परिधि में बाँधकर उपादेय बनाना चाहिए। विज्ञान में आज जो उत्तमोत्तम पुस्तकें निकल रही हैं उनमें इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया है, अतएव वे पुस्तकें उपयोगी और अच्छी सिद्ध हुई हैं। हिन्दी में जितने भी विज्ञान-लेखक हैं उन सब के एक प्रकार से पथ-प्रदर्शक और उन सब में अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति, अध्यापक रामदास गौड़ दिखायी देते हैं।

रामदास गौड़

रामदास गौड़ ने जिस साहित्यिक शैली का विज्ञान के प्रचार में आश्रय लिया है, वह किसी भी इतर विद्वान-लेखक में नहीं दिखायी देती। एक ओर तो आपने हिन्दी साहित्यिकों के लिए काव्य-परिपूर्ण भाषा में अपने विषय को सवाँरा है, दूसरी ओर विषय को इतना सरस, आकर्षक और सर्व-सुबोध बनाया है कि प्रत्येक ज्ञान-परिमाण उससे लाभ उठा सके। उनकी भाषा में अपूर्व प्रवाह है, काव्योपम सरसता है। ऐसी शुद्ध सुसंस्कृत हिन्दी बहुत से हिन्दी-साहित्य के निर्माणकों में भी नहीं मिलती। अनूठी उपमाओं और रूपकों से गुम्फित आपकी शैली पाठकों की अभिरुचि को गुदगुदाती चलती है, साथ ही बड़े बड़े वैज्ञानिक तथ्यों को भाषा की चिक्कणता, और सरलता से हृदय तक पहुँचा देती है। देखिये—

"सवेरे का सुहावना समय है। पूरब की लाली धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते सारे आकाश-मण्डल में फैल गयी। क्षितिज की चादर को उघार सूरज के झाँकने की देर थी कि सारा जङ्गल सुनहरी किरणों से जगमगा उठा। जो हरियाली, अभी सन्नाटे के संसार में बेसुध सो रही थी, अचानक जाग कर चहचहा उठी। सारे वन में इस जगत के जीवन-प्राण सूर्य देवता की अवायी पर बधायी बजने लगी। ओस की बूँदों ने हरी-हरी पत्तियों के अरघों से ढल-ढलकर पाद्य और अर्घ्य दिये। नरम-नरम टहनियों ने सुगन्ध वाले कोमल फूल चढ़ाये। आकाश ने आरती

में चाँद, तारे और नक्षत्र वार दिये। पुण्यमयी बहि: सलिला सरस्वती के किनारे, कोपीन से अङ्ग ढके, मृगछाला ओढ़े और बिछाये, अग्नि के सम्मुख आसीन, ऋषि इस सुन्दरता पर मोहित हो आँखें मूँद इसका चित्र अपने हृदय-पटल पर उतारने लगे और इस संसार के पिता सूर्य्यों के सूर्य्य को हृदय से धन्यवाद देने लगे"।

इसी प्रयोग का एक दूसरा अवतरण भी देखते चलिये—

"अभी तीन घण्टे बाकी हैं, पर अँधेरा हो रहा है। खिड़की से सिर निकालकर देखिये तो चालीस-चालीस पचास-पचास मञ्जिले मकान आकाश को चूम रहे हैं। उनकी ओर-छोर पर निगाह डालिये तो सिर से टोपी गिर जाय, तब कहीं दोनों ओर की अटारियों के बाजू के बीच आकाश का झरोखा देखने में आये। फिर ऐसी जगह सूरज कहीं दोपहर को कोशिश करके आप झाँक गया तो झाँक गया 'नांहित मोंहि जस दिन तस राती।'

रामदास गौड़

पता नहीं कि साँझ कब हुई। यहाँ तो अन्धेरा मालूम हुआ और एक बटन दबाते ही सारा कमरा जगमगाने लगा। पर इस आराम में भी रहते रहते जी उकता ही जाता है। चञ्चल मन कब मानता है। जी बहलाने को आकाश में उड़ने के लिए विमान, थल पर दौड़ने को मोटर और जल पर दौड़ने को स्टीमर तैयार है। बाहरी सभ्य संसार से बातचीत करने को टेलीफ़ोन, तार, बेतार का तार, बेतार का टेलीफोन आदि यन्त्र ऐसे हैं कि जिनके सामने देश

और काल सिकुड़ सिकुड़ाकर नन्हें-नन्हें हो रहे हैं। कई बरसों की राह सैकंडों में कट जाती है। बरसों का काम मिन्टों में पूरा हो जाता है। अड़ोस पड़ोस में सैकड़ों कारखाने इञ्जन से भरे पड़े हैं। कहीं भाप, कहीं गैस, कहीं पानी, कहीं हवा, कहीं बिजली, कहीं कमानी, हर तरह के बल से कलों के चलाने से घोर-शोर हो रहा है।

इनसे भी जी उकताया तो शहर के बाहर विश्वकर्मा के कई योजन में फैले बड़े बड़े भट्ठे महाविकराल अग्नि से धधक रहे हैं। सन्ध्या की अँधेरी में इनका तेज दशो दिशाओं को लाल कर रहा है। इन भट्ठों से पानी की तरह पतले, गले हुए, उजले, जलते लोहे की धारा निकल रही है। यही लोहा सारी कलों और मशीनों की जान है। दूसरी ओर धरती को खोद-खोद पाँच मील गहरा बड़ा भयानक लम्बा चौड़ा गड्ढ़ा बना हुआ है, जिसमें आदमी उतर उतर कर, मानो पाताल का पता लगा रहे हैं। तीसरी ओर ज्योतिषी धरहरे पर चढ़ा दूरबीन लगाये नीहारकाओं को निहार-निहार सबसे दूर के तारों से बातें कर रहा है। आज से लाखों बरस पहले जो उनकी दशा थी उसे आज अपनी आंखों से देख रहा है और पहचान रहा है कि वह किन तत्वों के बने हुए हैं।"

सुन्दर प्राकृतिक वर्णन में लिपटा हुआ न्यूयार्क नगर का कैसा मनोरम—कीर्तिसम्पन्न वर्णन हमें मिलता है, उसके लिखने की क्षमता बड़े बड़े लेखकों में भी कम मिलेगी। बड़ा होने पर भी हम उसे उद्धृत करने का लोभ सम्वरण नहीं कर सके।

रामदास गौड़ का विज्ञान-साहित्य के बृहद् निर्माणकों में चाहे उच्च स्थान न हो, परन्तु हिन्दी-साहित्य के विज्ञान-क्षेत्र में वे अनिवार्य रूप से आचार्य हैं। विज्ञान-साहित्य के प्रचार-प्रसार में आप का वही स्थान है जो हिन्दी-साहित्य के युग-प्रवर्तक-निर्माणकों में महावीर प्रसाद द्विवेदी का है। रामदास गौड़ ने सैकड़ों की संख्या में हिन्दी में विज्ञान विषयक लेख लिखे हैं। विज्ञान के गहन विषयों को उनकी लेखनी

के स्पर्श से ही लोक-प्रियता और एक अद्भुत चमत्कारपूर्ण सरसता मिल गयी है। आपने विज्ञान-साहित्य के निर्माण में बहुत सी मौलिक पुस्तकें चाहे न लिखी हों, किन्तु बहुत से मौलिक लेखक अवश्य उत्पन्न कर दिये। इनके विज्ञान-मण्डल में विज्ञान-लेखकों का एक बड़ा भारी कुटुम्ब है, जिसने हिन्दी में विज्ञान की अनन्य सेवा की है और कर रहा है। 'विज्ञान' पत्र के सम्पादक के पद से, विज्ञान-मण्डल के संरक्षक रूप में, और विश्व-विद्यालय में प्रोफ़ेसर की स्थिति से आपने विज्ञान-विषय की उन्नति का साधन एक मात्र हिन्दी ही बनाया है।

आपने केवल विज्ञान विषयक शतशः लेख ही नहीं लिखे, 'विज्ञान' पत्र में बन्दना-रूप में सैकड़ों कविताएँ भी रची हैं। गर्मी और बरसात पर एक कविता 'विज्ञान' में प्रकाशित है, 'सभ्यता की पुकार' शीर्षक आपका लेख भाषा की दृष्टि से बड़ा सुन्दर है। रचना को सर्व-सुबोध बनाने के लिए आपने जन्तु-जगत का 'भुनगा-पुराण' शीर्षक लेखों में सुन्दर विश्लेषण किया है। 'भुनगा-पुराण' की लेखन-शैली बड़ी मधुर और आकर्षक है। इस पुराण का एक खण्ड हम पाठकों के विनोद के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं :—

इतनी कथा सुन भुनगादि ऋषि बड़े आश्चर्य में हो विनीत भाव से बोले "हे भगवान! यह आपने बड़ी विचित्र बात सुनायी कि क्षत्रिय देवता अपने शरीर को लम्बा करने लगता है, फिर उसके दो भाग हो जाते हैं और दोनों अलग व्यक्ति होकर रहने लगते हैं। इस प्रकार इन देवताओं की संख्या दिन दूनी, रात चौगुनी होती जाती है। यदि यह देवता अपनी इच्छानुसार बढ़ सकते हैं तो दो या अधिक व्यक्तियों के होने के पहले अपने आकार को बढ़ाते बढ़ाते पर्वताकार क्यों नहीं हो जाते और ब्रह्माण्ड को अतिक्रम क्यों नहीं कर लेते? हे भगवन्! आपने यह बताया कि इनके शरीर पारदर्शी होते हैं, तो आपने अवश्य देखा होगा कि इनके शरीर के भीतर कैसे पदार्थ होते हैं? क्या क्या अवयव होते हैं? कैसी कैसी क्रियाएँ होती हैं? वह क्या रहस्य है

कि एक ही व्यक्ति का अनेक हो जाना सम्भव है? हे महर्षि! यह सब रहस्य हम सब को कृपा करके सुनाइयेगा।"

इतना प्रश्न सुन भुनगेश्वर जी बोले कि "हे भुनगा महर्षियों, यह क्षत्रिय देवता, दिव्य-रूपधारी जिस प्रकार बल-वीर्य में अपनी उपमा नहीं रखते, उसी प्रकार बुद्धि में भी अद्वितीय हैं। इनका शरीर ऐसे तरल पदार्थ का बना होता है कि उसके चारों ओर से आप से आप यथेष्ट भोजन का प्रवेश होता रहता है। भोजन के पाचन की क्रिया हम लोगों के शरीर की नाईं बहुत साधारण नहीं है। इनके शरीर में साधारण तथा पाँच या छः प्रकार के मूल पदार्थ होते हैं, पर इस कथन में कोई विलक्षणता नहीं है। आश्चर्य और महाश्चर्य की बात यह है कि इनके शरीर के बीचो बीच एक प्रकार की वक्र रेखामयी वस्तु होती है, जिसे देव भाषा में केन्द्रास कहते हैं और उसके इधर उधर दो पदार्थ बिन्दुरूप में पाये जाते हैं जिन्हें वर्णआस कहते हैं। यह घूमते घूमते दोनों वर्ण आसओं को दूर-दूर कर देते हैं। इन वर्ण-आसओं में एक विचित्र ढङ्ग का खिँचाव होता है। केन्द्रास के आधे आधे-भाग को वर्णआस युगल अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। धीरे-धीरे इस खिँचाव से देवता का शरीर लम्बा और बीच से पतला होता जाता है। यह क्रिया थोड़ी ही देर में पहले के एक देवता से, दो उत्पन्न कर देती है। निदान जब कई व्यक्तियाँ हो गयीं तब प्रत्येक व्यक्ति में वही दो वर्णआस फिर प्रगट हो जाते हैं और फिर उसी प्रकार व्यक्ति-विभाग जारी रहता है।

हे भुनगानन्दनो, तुमने यह पूछा कि यह देवता संख्या में बढ़ने के बदले शरीर की बड़ाईमें क्यों नहीं बढ़ जाते, तो इसका कारण यह है कि इनके शरीर का ऊपरी भाग ही भीतर भोजन ले जाने की इन्द्रियाँ हैं। जितनी बड़ी देह है उसके अनुसार उतना ऊपरी तल है, इसीसे उसे पर्याप्त भोजन मिलता है। यदि शरीर आतयन में बढ़ता जाय और साथ ही वह तल भी बढ़ता जाय तो परिणाम यह होगा कि शरीर के भीतरी भाग में जितने पदार्थ की, सामग्री की, आवश्यकता होगी ऊपरी तल

अपेक्षाकृत उतना भोजन पहुँचा न सकेगा। इसलिए शरीर-यात्रा सध न सकेगी।

हे भुनगानन्दनों, यही बात है कि यह देवता निरन्तर अपने शरीर को न बढ़ाकर अपनी संख्या ही बढ़ाते रहते हैं; और जैसे साधारण प्राणियों की मृत्यु होती है और शरीर छूट जाता है, सड़ गल कर नष्ट हो जाता है, अथवा अन्य प्राणी उसे खा जाते हैं, उस तरह उनके शरीर की दशा नहीं होती। इनका शव कभी होता ही नहीं। इसको वृद्धि को ही मरण समझना चाहिए। मृत्यु उनके लोक में उत्पन्न ही नहीं हुई। यमलोक तो अन्य प्राणियों के लिए बना है। जिस समय पर एक व्यक्ति से दो व्यक्ति हो जाते हैं, दोनों नयी व्यक्तियाँ होती हैं। पुराना व्यक्ति इस तरह नष्ट हो जाता है कि उसका अत्यन्ताभाव समझना चाहिए।

हे भुनगा नन्दनों, यह देवगण इस प्रकार जरा-मरण से मुक्त, निरन्तर अपनी सृष्टि बढ़ाते रहते हैं। तुमने सुना होगा कि अनेक प्राणी संसार में ऐसे हैं जिनका जीवन संसार में सन्तान उत्पन्न करने तक रहता है। सन्तानोत्पत्ति होते ही वे मर जाते हैं, यही प्रकृति का नियम है। जगतनियन्ता ने सृष्टि को सदा रखने के लिए ऐसी परम्परा बना रखी है कि प्रत्येक प्राणी सन्तान की उत्पत्ति में सुख मानता है और सन्तान के योग्य हो जाने पर अपना जीवित रहना भी व्यर्थ समझता है। इन देवताओं की दशा, ईश्वर की रचना में, उनकी इच्छा के अनुरूप है। यह देवता एक से अनेक होना और अपने को एकदम मिटा देना, अपना परम कर्तव्य समझते हैं।

हे भुनगानन्दनो, जिसे मृत्यु कहते हैं वह वस्तुतः संसार परम्परा की रक्षक है। यही बात है कि सृष्टि के पालन के साथ साथ मरण भी अत्यावश्यक और अनिवार्य है"।

इत्यार्षे श्री भुनगा महापुराणे देव-जीवन वर्णनो नाम पञ्चमोध्यायः।

भाषा शैली में कैसा सामञ्जस्य है, विनोद और तथ्य कितनी

सुन्दरता से ओत-प्रोत है ! गौड़ जी ने ज्ञान की घूंटी एक अपूर्व सरलता से कण्ठ में उतार दी है।

विज्ञान का आधार बाहरी प्रयोगशाला है, स्वरूप भौतिक है; किन्तु काव्य का आधार आभ्यान्तरिक धरातल है और उसके आलम्बन अमूर्त भावनाएं और विचार रहते हैं। इस दृष्टि से काव्य और विज्ञान का परस्पर विरोध है, परन्तु अटूट चिन्तना दोनों में ही आवश्यक है। विज्ञान का कोई भी प्रयोग बिना उत्तम चिन्तना के सफल नहीं हो सकता और इसी प्रकार काव्य का कोई भी स्वरूप जिसमें चिन्तना का अनुपम समावेश न हो, उत्तम नहीं कहा जा सकता। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चिन्तना के बिन्दु पर विज्ञान और काव्य दोनों रेखाएँ मिल जाती हैं। अतएव वह मनस्वी जो चिन्तनशील है और एक दार्शनिक है, विज्ञान का पण्डित होते हुए भी कवि हो सकता है। रामदास इसी कोटि के व्यक्ति हैं। आपकी उच्चदार्शनिकता विज्ञान को काव्य का कलेवर दे देने में अद्वितीय रूप में सफल हुई है। इनकी शैली में कोरे काव्य की अलसान का बहिष्कार है और विज्ञान के रूखेपन से भी वह बिलकुल अछूती है। इसमें तरल प्रवाह और मार्दव के साथ सरसता-सरलता का घनत्व है।

रामदास गौड़ के पश्चात् विज्ञान विषयक अन्य जितने लेखक हैं, उनमें यह साहित्यिकता नहीं है, और न हिन्दी में विज्ञान-साहित्य के लिए वैसी पक्की धुन। परन्तु रामदास गौड़ के वैयक्तिक उज्वल चरित्र ने हिन्दी प्रचार की आँधी को और भीषण बना दिया, परिणाम यह हुआ कि बड़े बड़े विद्वानों की अभिरुचि हिन्दी में मौलिक ग्रन्थों के प्रणयन की ओर हुई, जिससे हिन्दी का महत्व बढ़ गया।

विज्ञान विषयक कुछ पुस्तकें

हिन्दी साहित्य में विज्ञान आजकल सब प्रकार से पूर्ण तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु प्रत्येक दिशा में उसकी उन्नति हो रही है।

ज्योतिष विषय में कुछ स्फुट लेखों के अतिरिक्ति मनोरञ्जन-पुस्तक-माला की "ज्योतिर्विनोद" साधारणतया अच्छी पुस्तक है। गणित-ज्योतिष रूखा विषय है; सर्वसाधारण की रुचि उस ओर नहीं है। संस्कृत के ज्योतिषाचार्य हिन्दी लिखने की ओर कम ध्यान देते हैं, और कुछ विद्वानों को छोड़कर वास्तव में वे हिन्दी में अच्छी पुस्तकें लिख भी नहीं सकते। संस्कृत के ज्योतिषियों में प्रयोग-बुद्धि की कमी और साधनों का अभाव है। मान-मन्दिर के यन्त्रों के आधार पर यदि वे चाहें तो मौलिक ग्रन्थों की रचना हो सकती है।

स्कूलों में हिन्दी माध्यम हो जाने के साथ साथ हिन्दी में वैज्ञानिक पुस्तकों की रचना होना अनिवार्य था, परन्तु जब तक विश्व-विद्यालयों में हिन्दी माध्यम नहीं होता तब तक मौलिक ग्रन्थों के प्रणयन के लिए प्रोत्साहन का द्वार बन्द सा है। स्कूलों में हिन्दी का माध्यम होने पर भी बहुत से अध्यापक अँगरेजी पुस्तकों से ही आज दिन विज्ञान पढ़ाते हैं। वैसे तो बहुत पहले १८६० ई० में विज्ञान की पहली पुस्तक 'सरल-विज्ञान-विटप' नाम से प्रकाशित हुई थी। काशी के पं० मथुरा प्रसाद ने विज्ञान सम्बन्धिनी कई छोटी छोटी पुस्तकें लिखी हैं। मुंशी नवलकिशोर ने भी साहित्य-सेवा में अच्छा हाथबटाया था। सन् १८८३ में आपने 'रसायन' सम्बन्धी एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। लक्ष्मीशङ्कर मिश्र का 'त्रिकोणमिति' विषयक ग्रन्थ भी अब काफ़ी पुराना हो चुका है। परन्तु इनका अध्यवसायपूर्ण उपादेयकार्य 'काशी पत्रिका' का निकालना था जिसने साहित्य के साथ साथ विज्ञान की उन्नति में भी हाथ बटाया। बापूदेव शास्त्री की 'बीज गणित' पुरानी होते हुए भी अपने युग में अद्वितीय पुस्तक थी, परन्तु सुधाकर द्विवेदी की गणित सम्बन्धी 'चलन-कलन' तथा 'चलराशि-कलन' नामक दोनों पुस्तकें आज भी अनोखी समझी जाती हैं। सुधाकर द्विवेदी की भाषा का पण्डिताऊपन इन ग्रन्थों में अधिक नहीं आया है फिर भी भाषा की उत्तमता की दृष्टि से इन पुस्तकों की समीक्षा करना व्यर्थ है। एक पुरानी सी

पुस्तक 'सूर्य-करण-मीमांसा' भी देखने में आयी है, लेखक का नाम मुझे स्मरण नहीं। यह पुस्तक साधारण दृष्टि से अच्छी है। महेश शरण-सिंह ने महात्मा मुंशीराम का प्रोत्साहन पाकर गुरुकुल कांगड़ी की अध्यक्षता में विज्ञान विषयक कई पुस्तकें लिखीं। उधर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने वैज्ञानिक कोष का निर्माण किया। परन्तु विज्ञान सम्बन्धी कार्य को तेजी के साथ आगे बढ़ाने का श्रेय प्रयाग के 'विज्ञान परिषद्' को ही है। भौतिक और रसायन दोनों भागों में विज्ञान की अच्छी पुस्तकें रची गयीं। गत १५ वर्षों से निकलने वाले 'विज्ञान' नामक मासिक-पत्र ही ने क्या कम सेवा की है? सैकड़ों विज्ञान विषय के लेखक और सहस्रों विज्ञान में अभिरुचि रखने वाले पाठक पैदा कर दिये।

इधर प्रयाग के डाक्टर गोरखप्रसाद ने विज्ञान की अच्छी सेवा की है और विद्वानों ने उनका उचित समादर भी किया है। उनकी 'फ़ोटोग्राफ़ी' नामक पुस्तक, जिसका प्रकाशन इण्डियन प्रेस ने किया है, अपने विषय की मौलिक एवं उत्कृष्ट पुस्तक है। इसी प्रकार हिन्दुस्तानी एकेडमी द्वारा प्रकाशित इनका 'सौर्य परिवार' सुन्दर चित्रों से समन्वित एक अच्छा ग्रन्थ है। 'सूर्य सिद्धान्त' नामक एक और पुस्तक दो भागों में निकली है; विद्वानों ने इसका आदर किया है। संस्कृत और अँगरेजी से अनुवाद तो बहुत हुआ है। हिन्दुस्तानी एकेडमी द्वारा प्रकाशित व्रजेश बहादुर का 'जन्तु जगत' भी एक अच्छा ग्रन्थ है।

विज्ञान-विषयक लेखकों में रामदास गौड़ के बाद गोपाल दामोदर तामस्कर का नाम आता है। इन्होंने 'विज्ञान' के सम्पादन कार्य में काफ़ी अभिरुचि दिखलायी, परन्तु विज्ञान-साहित्य की अधिक श्रीवृद्धि महावीरप्रसाद श्रीवास्तव ने की है। इनके लेख इतने सुन्दर और इतने व्यावहारिक होते थे कि उन्होंने विज्ञान विषय की ओर बड़े वेग से लोक-रुचि

महावीर प्रसाद श्रीवास्तव

उत्पन्न की। गौड़ जी के बाद किसी अन्य लेखक में गौड़ जी की प्रतिभा, उनकी काव्योपम अभिव्यञ्जन प्रणाली, तथा उनकी सरसता और सजीवता न थी, किन्तु सरलता को इन लोगों ने खूब अपनाया है। इसी से विज्ञान की उन्नति, इन लोगों द्वारा अबाध गति से होती रही। श्रीवास्तव में यद्यपि गौड़ जी के सदृश ओज न था, किन्तु प्रसाद गुण इनकी रचनाओं में यथेष्ट है। आपकी भाषा का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

+ + + "परन्तु, पटरी से तोलने के लिए कुछ त्रैराशिक और कहे हुए नियम के जानने की आवश्यकता अवश्य पड़ती है। इसलिए सभी मनुष्यों के लिए और सभी समय इससे काम न चलेगा। यही समझ कर तराजू बनाया गया है जिसके द्वारा केवल जोड़ और बाक़ी का हिसाब जान कर लोग तोल सकें। तराजू के बनाने में इस नियम के एक अङ्ग का ध्यान अवश्य रक्खा जाता है; अर्थात् तराजू की डण्डी ऐसी होनी चाहिए कि बीचोबीच लटकाने से बराबर रहे, और जब एक ही तोल से पलड़े घुमाव के बराबर दूरी पर रहें तब भी डण्डी धरातल के समानन्तर रहे। ऐसी अवस्था में यदि प्रत्येक पलड़े पर समान तोल की चीजें रक्खी जायँगी तो भी डण्डी समानान्तर रहेगी।"

महाबीरप्रसाद श्री वास्तव

(डांडी के खेल से)

डाक्टर गणेशप्रसाद ने मेस्टन महोदय के सम्मुख हिन्दी में वैज्ञानिक उन्नति हो सकती है—इस बात को सिद्ध करने के लिए जो

व्याख्यान दिया था, वह भी हिन्दी में एक अच्छा प्रयास था।

अन्य लेखक

सालिग्राम भार्गव के वैज्ञानिक लेख भी सरल होते हैं। ब्रजराज की भाषा में कुछ रूखापन रहता है, इसके प्रतिकूल निहाल करण सेठी की भाषा सरस और सरल है। इसके विपरीत गंगाप्रसाद जी के लेख गम्भीर होते हैं। जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार तथा कविराज प्रतापसिंह एक ढर्रे के लेखक हैं, यद्यपि इनके विषय प्रथक् प्रथक् हैं। जगपति चतुर्वेदी विज्ञान विषय के बड़े उत्साही लेखक हैं और यह उनके गौरव की बात है कि किसी विश्व-विद्यालय के साधन के बिना ही उन्होंने कुछ पुस्तकें रच दी हैं, यद्यपि उनका आधार अधिकतर मौलिक नहीं है। मनोहर लाल भार्गव और कृष्ण गोपाल माथुर ने भी 'विज्ञान' पत्र में अच्छे और मौलिक लेख लिखे हैं। राजनारायण भटनागर का भी विषयों का चयन अच्छा था। सत्य प्रकाश के लेख गहरे होते हैं; उनके लिखने का ढङ्ग भी साहित्यिक है। आपकी शैली में गुरुता और चिन्तना में दुरूहता आ गयी है। अनुवादकों में सैय्यद मोहमदअली बुरे नहीं हैं; किन्तु मुसलमान लेखकों में मेहदी हुसेन कुरेंसी ने भी अच्छे लेख लिखे हैं। समाहार रूप से लज्जाशङ्कर झा, चन्द्रमौलि सुकुल, मुकुट-बिहारीलाल, देवी प्रसाद मुन्सिफ़, कानपुर के हरनारायण बाथम अपने लेखों में किसी न किसी ढङ्ग से विज्ञान विषयों की चरचा करते रहे हैं। सम्पूर्णानन्द की कृतियों में अधिक स्फूर्ति और रोचकता रहती है। शेषनाग त्रिपाठी ने भी पहले अच्छे अच्छे लेख लिखे हैं। कृष्णदेव प्रसाद गौड़ इधर विज्ञान से हटकर हिन्दी कविता और गद्य साहित्य लेखन की ओर अधिक झुक रहे हैं। बाबूराम अवस्थी, चिरञ्जीलाल, तेजशङ्कर कोचक, गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ने किसी समय 'विज्ञान' पत्र में काफ़ी और अच्छे लेख लिखे थे।

स्वर्गीय राधामोहन गोकुल जी की लेखनी विचित्र शक्ति-सम्पन्न है; राजनीति में प्रवेश करके क्रान्ति फूँकने की क्षमता रखने वाली, समाज

की रूढ़ियों के ध्वंस में वैसा ही प्रभाव रखती है । नास्तिकता का प्रतिपादन कड़े तर्क के साथ करते हुए, आप अन्यत्र विज्ञान-प्रचार को महत्व देते हैं । गोकुल जी ने विज्ञान सम्बन्धी काफ़ी लिखा है । हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान रघुनन्दन शर्मा ने भी 'अक्षर विज्ञान' नामक एक पुस्तक लिखी है । यह यद्यपि पूर्णरूप से वैज्ञानिक कृति तो नहीं कही जा सकती, किन्तु विज्ञान के इस अङ्ग की पूर्त्ति का अच्छा प्रयास है ।

उपर्युक्त अन्तिम दोनों लेखकों को छोड़कर रामदास गौड़ के बाद जितने विज्ञान विषयक लेखक हुए हैं, सब की भाषा नितान्त सरल और सुबोध है । इनमें प्रज्ञात्मक गुण प्रधान हैं । हृदय को स्पर्श न करके वह केवल मस्तिष्क को ही तृप्त कर सकती हैं । हृदय और मस्तिष्क दोनों को लपेट में लाने का गुण केवल गौड़ में है ।

इधर हीरालाल खन्ना की भी लेखनी में हमें कुछ साहित्यिकता का आभास मिलने लगा है । यद्यपि खन्ना जी सर्वत्र सरलता और विज्ञान में असाहित्यिकता की दुहाई देते देखे जाते हैं, किन्तु वे स्वतः उतना सरल नहीं लिखते जितनी दूसरों से आशा करते हैं । झाँसी साहित्य-सम्मेलन के विज्ञान-परिषद् के सभापति के पद से दी हुई उनकी वक्तृता का एक अंश देखिये—

"विज्ञान हमें बताता है कि प्रकृति अपने कार्यों में सर्व-व्यापकता का लिहाज़ रखती है और किसी एक व्यक्ति की कुछ रियायत नहीं करती वरन् उन व्यक्तियों को अपने कार्य साधन का मार्ग बनाती हैं । प्रत्येक वस्तु चंचल अवस्था में है, बिगड़ने के बाद फिर बनती है और बनने के बाद फिर बिगड़ती है । ऐसी दुनिया में जहाँ प्रत्येक वस्तु मरती है, उसके लिए शोक करना व्यर्थ है ।"

अस्तु, यह स्थल कुछ क्लिष्ट चिन्तना के कारण थोड़ा कड़ा हो गया है, ऐसा कहा जा सकता है; किन्तु यदि साहित्यिक भाषा का बलात् बहिष्कार न किया गया होता तो इस गद्य-खण्ड का संघटात्मक गुण नष्ट हो सकता था । खैर सम्भाषण का अन्तिम अंश देखिए—

"हमारे विश्व-विद्यालयों से भास्कराचार्य और आर्य भट्ट के समान नर-रत्न और लीलावती सी विदुषियाँ उत्पन्न हों। यदि प्रत्येक गृहस्थी में एक मोटर हो जाये, यदि प्रत्येक नवयुवक एक वायुयान रख सके, यदि प्रत्येक मनुष्य की दीपावली प्रतिदिन विद्युत सजावें तो भी हमारे देश में विज्ञान-ज्ञान की खोज का अन्त न हो। विज्ञान के व्यवहार के दूषित परिणाम से यहाँ के लोग बाल-बाल बचे रहें। अर्तात साक्षी है कि हम में विज्ञान ने कभी भी पौरुष-हीनता, आलसता एवं विलासिता उत्पन्न नहीं की, और न आध्यात्मिक उत्कर्ष से ही हमें उसने वञ्चित रक्खा। उच्च विचार और सरल जीवन भारत का निजी है। विज्ञान के ध्वंसकारी व्यवहार पाश्चात्य देशों तक ही सीमित रहें। घात-प्रतिघात के दाँव-पेंच से उलझा हुआ जीवन, अशान्ति से परिणीत व्यक्तियों के लिए ही चरम उत्कर्ष हो सकता है। हमारे आदर्श व्यक्तियों का सम्पूर्ण समाहार इसका ज्वलन्त उदाहरण है कि भारत के लिए विज्ञान-ज्ञान शारीरिक उपभोग की वस्तु कभी नहीं रहा।

भरद्वाज मुनि के सूक्ष्म विज्ञान-तत्व के व्यावहारिक चमत्कार के इन्द्रजाल में आमन्त्रित भरत जी की क्या दशा थी, वह स्वयं कवि सम्राट् गोस्वामी तुलसीदास जी के मुख से सुनिये—

'सम्पति चकई, भरत चक, मुनि आयसु खिलवार।
तेहि निशि आश्रम पींजरा, राखे भा भिनुसार॥'

"भरत भारत के अभिधान प्रेरक ही नहीं, आदर्श के प्रेरणा भी हैं।"

इस शैली को कौन सरल कहेगा? यहाँ खन्नाजी पूर्ण रूप से साहित्यिक हैं। हिन्दुस्तानी के प्रचार के लिए आप चाहे जो कहें, किन्तु साहित्य के प्रौढ़ स्वरूप के निर्माण में हिन्दुस्तानी की अयोग्यता को इनके इस गद्य खण्ड से अधिक अच्छा प्रमाण और दूसरा नहीं चाहिए। हीरालाल खन्ना ने अन्यत्र सरल और सुबोध भी पर्याप्त लिखा है। इनकी छोटी छोटी कहानियों में भाषा-सारल्य का सर्वत्र साम्राज्य है। इधर आपने कुछ विज्ञान ग्रन्थों का अनुवाद किया है तथा कुछ

ग्रन्थों की स्वतन्त्र रचना भी की है। प्रकाशित होने पर आपकी भाषा-शैली की समीक्षा की जा सकेगी।

विश्वम्भरनाथ सनातन धर्म कालेज के एक अध्यापक देवदत्त अरोड़ा की 'धर्म' सम्बन्धी दूसरी अच्छी पुस्तक प्रकाशित हुई है। अकेले चिकित्सा सम्बन्धी हिन्दी में काफ़ी साहित्यपना है। कुछ मौलिक है और कुछ अनुवाद। वैद्यक कोषों के अतिरिक्त 'चरक' और 'सुश्रुत' सटीक मिलते हैं। 'रसराज' नामक पुस्तक में रसों के गुण निरूपण मिलेंगे। संस्कृत के सभी ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी में मिलता है। यहाँ पर उनका उल्लेख करके एक लम्बी चौड़ी तालिका प्रस्तुत करना व्यर्थ है। इस सम्बन्ध में हरिदास वैद्य का साहस विशेष उल्लेख-नीय है। चतुरसेन शास्त्री ने भी वैद्यक सम्बन्धी पुस्तकें लिखीं हैं। अलग अलग रोगों पर तथा उनके निदानों और औषधियों पर अच्छी अच्छी पुस्तकें हैं। होमियोपेथी और एलियोपेथी की काफ़ी पुस्तकें अनुवादित हो गईं हैं। शरीर-विज्ञान सम्बन्धी बहुत सी पुस्तकें हिन्दी में मौजूद हैं। वैद्यों की अखिल भारतीय सम्मेलन की पत्रिका में अच्छे अच्छे लेख निकलते हैं। अन्य मासिक पत्रों में स्वास्थ्य सम्बन्धी अच्छे अच्छे लेख दिखाई देते हैं। केदारनाथ गुप्त, केशव कुमार ठाकुर इत्यादि कुछ लेखकों ने, वैद्य न होकर भी स्वास्थ्य सम्बन्धी पुस्तकें लिखी हैं। लखनऊ के शालिग्राम शास्त्री, प्रयाग के जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, कानपुर के किशोरीदत्त भी वैद्यक सम्बन्धी पुस्तकों के प्रणेता हैं। अन्य उच्च कोटि के विद्वानों ने भी वैद्यक-सम्बन्धी पुस्तकें लिखकर हिन्दी की सेवा की है। परन्तु चिकित्सा-विभाग में मौलिक शोध करके लिखने वाले बहुत कम लेखक हैं। इसी से इस साहित्य की वास्तविक अभिवृद्धि कम हो रही है, और केवल अनुवाद हुए हैं। डाक्टर प्रसादीलाल झा अवश्य एक ऐसे लेखक हैं, जिनकी गणना मौलिक लेखकों में की जा सकती है। आपकी सारी कृतियाँ मौलिक, विचारपूर्ण और निजी शोध पर आश्रित हैं। आपकी आयुर्वेद की

मीमांसा पढ़कर यह धारणा बँधती है कि आपकी सूक्ष्म शैली केवल विशिष्टों के समझने की वस्तु है, सर्व सुबोध नहीं। वास्तव में वैद्यों पर अभी संस्कृतपने का बड़ा प्रभाव है। उनकी शैली पर भी इसका बड़ा असर है। हिन्दी पुस्तकों के लिखने की ओर उनकी वृत्ति कम है। प्रयाग की यशोदा देवी तथा चन्द्रकान्ता देवी, स्त्रियों की चिकित्सा-सम्बन्धी अच्छी पुस्तकें और लेख लिख रही हैं।

इधर शक्कर मिलों की जब से बाढ़ हुई है तब से शक्कर पर अच्छा साहित्य, लेखों के रूप में प्रकाशित हो रहा है। एक आध पुस्तकें भी देखने में आयी हैं। रामरक्षपाल संघी के लेख इस विषय में बेजोड़ होते हैं। वर्तमान मासिक पत्रिकाओं के विज्ञानांक निकलने लगे हैं। कृषि-विज्ञान सम्बन्धी एक साप्ताहिक पत्र 'हलधर' निकल रहा है। इसी प्रकार कल कारखानों से सम्बन्ध रखने वाली काफ़ी पुस्तकें और लेख निकल रहे हैं।

न्यायालयों में हिन्दी को उर्दू के साथ स्थान दिलाने के आन्दोलन की चरचा की जा चुकी है। हिन्दी को स्थान तो मिल गया है परन्तु वह व्यवहार की भाषा नहीं है। अदालतों में पूर्णरूप से उर्दू का ही साम्राज्य है। हिन्दी प्रेमी वकीलों के वकालतनामें और प्रार्थना-पत्र की हँसी उड़ाई जाती है। परन्तु जितने ही नये वकील बढ़ते जाते हैं, हिन्दी का प्रवेश सुगम होता जाता है। नये वकीलों में अधिकांश उर्दू जानते भी नहीं हैं।

न्यायालय साहित्य

अभी हिन्दी का प्रवेश न होने के कारण हिन्दी की पुस्तकों की खपत न्यायालयों में नहीं है। अङ्गरेजी की पुस्तकें ही प्रामाणिक और उपयोगी मानी जाती हैं। ऐसी दशा में क़ानून की पुस्तकों का हिन्दी में निकालना बड़े साहस का काम है। कुछ प्रकाशकों ने इस ओर साहस किया है। प्रयाग और कानपुर इस दिशा में अग्रसर हुआ है। देशी रियासतों में उनकी खपत होने के कारण, प्रकाशक अब कुछ न

कुछ उससे पैदा ही कर लेता है। कानपुर का 'क़ानून प्रेस' क़ानूनी पुस्तकों को हिन्दी में छपाने में काफ़ी उत्साह दिखला रहा है। क़ानून सम्बन्धी पुस्तकों में कुछ को चन्द्रशेखर शुक्ल ने स्वयं लिखा है और बहुतों को कानपुर के रूपकिशोर टण्डन एम० ए० एल० एल० बी० वकील से लिखवाया है। रूपकिशोर टण्डन के लिखने का ढङ्ग काफ़ी अच्छा है। क़ानूनों को समझाने के लिये जैसी सुलझी हुई भाषा चाहिए, वैसी उनमें है। 'क़ानून दिवालिया,' 'कान्ट्रैक्ट एक्ट,' 'क़ानून दाद रसीख़ास,' 'माल की बिक्री का क़ानून', 'बाल-विवाह निषेध एक्ट', 'ताजीरात हिन्द' तथा 'भारतीय क़ानून शराकत', 'क़ानून दाद-रसी काश्तकारी' रूपकिशोर के लिखे हुए ग्रन्थ हैं। चन्द्रशेखर जी का लिखा हुआ 'हिन्दू ला' है। इसके अतिरिक्ति, 'इन्कमटैक्स एक्ट,' 'ज़ाप्ता फ़ौजदारी' 'डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ऐक्ट,' 'म्यूनिसिपल एक्ट' इत्यादि और पुस्तकें भी मेरे देखने में आई हैं। इन पुस्तकों को निरा निरा अङ्गरेज़ी पुस्तकों का अनुवाद नहीं कहा जा सकता। विषय की व्यवस्था के अतिरिक्त व्याख्या भी लेखकों की निजी है। क़ानूनों का अक्षर अनुवाद स्वाभाविक है। किसी विशेष अङ्गरेज़ी पुस्तक की कोई एक पुस्तक अनुवाद नहीं कही जा सकती। हाँ, कई पुस्तकों के आधार पर एक पुस्तक अवश्य लिखी गयी है। हाईकोर्ट की नज़ीरें 'ला जर्नल' नामक पत्र से ली गयीं हैं। सारांश यह कि पुस्तकें क़ानून के लिए उपयोगी हैं और देशी रियासतों में, जहाँ हिन्दी न्यायालयों में स्वीकार है, उनकी बिक्री भी होती है। हिन्दी की बढ़ती के साथ साथ अदालतों में जिस घड़ी अङ्गरेज़ी का साम्राज्य घटेगा उस समय से हिन्दी पुस्तकों का उचित सम्मान होने लगेगा।

जब से स्कूलों में हाई स्कूल परीक्षा तक हिन्दी का माध्यम स्वीकार हुआ और जब से विश्वविद्यालयों में हिन्दी को उचित स्थान मिला है तब से शिक्षकों का एक वर्ग अच्छी अच्छी पाठ्य पुस्तकें प्रस्तुत करने में संलग्न है। इधर अनेक अच्छी पाठ्य पुस्तकों के दर्शन हुए

हैं, और उन पर जो भूमिका अथवा आलोचना संकलनकर्त्ता द्वारा लिखी जाती है उसे देखते हुए ये पुस्तकें हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि करती हैं। पाठ्य पुस्तकों के आरम्भिक कुशल लेखक श्यामसुन्दरदास और द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी कहे जा सकते हैं। इधर संकलन-कर्त्ताओं में बहुत से शिक्षित नवयुवक प्रविष्ट हो गए हैं, और उन्होंने अच्छी पाठ्य सामग्री का प्रणयन किया है। गद्य-साहित्य में इन युवकों का योग किसी न किसी अंश में लाभप्रद प्रमाणित होगा। इधर हिन्दी में कई कोष तय्यार हुए हैं। काशीनागरी प्रचारिणी सभा का कोष सबसे बड़ा और पूर्ण है। विज्ञान कोष का भी निर्माण हुआ है।

पाठ्य पुस्तकें और कोष

हिन्दी साहित्य की उन्नति के साथ साथ बालोपयोगी व स्त्रियोपयोगी साहित्य की भी उन्नति हुई है। कुछ ऐसे समाचार-पत्र निकल रहे हैं जिनका उद्देश्य केवल बालक बालिकाओं और स्त्रियों की उन्नति करना है। स्त्रियों की उन्नति में प्रयाग के 'चाँद' ने योग दिया है; 'स्त्री दर्पण' भी स्त्रियों के लिए अच्छा पत्र गिना जाता था; बालिकाओं के लिए 'सहेली' और बालकों के लिए 'बानर', 'बालसखा', 'विद्यार्थी', 'शिशु', 'कुमार', 'कमल' इत्यादि बहुत से पत्र निकलते हैं। ठाकुर श्रीनाथसिंह, बद्रीनाथसिंह देवीदत्त शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी, आनन्दकुमार तथा सोहनलाल, नारायण, प्रसाद अरोड़ा बाल-साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ हैं। रामनारायण मिश्र, ज़हूर बख़्श इत्यादि बहुत से सज्जन बाल-साहित्य के निर्माण में बहुत योग दे रहे हैं। प्रयाग के 'हिन्दी प्रेस' के स्वामी रामजीलाल शर्मा ने बाल-साहित्य के निर्माण में प्रभावशाली योग दिया है। उनके आत्मज रघुनन्दन शर्मा उसी को आगे बढ़ा रहे हैं।

बालोपयोगी और महिलोपयोगी साहित्य

बड़ी सीधी सादी सुबोध शैली में बालकों के लिए उपयोगी साहित्य की सृष्टि भूपनारायण दीक्षित ने की है। बड़े रोचक ढङ्ग से उनकी

कहानियाँ चलती हैं। कथा जितनी रोचक होती है, कहने का ढङ्ग उससे भी अधिक रोचक होता है। भाषा फुदकती हुई चलती है और बच्चों के लिए उसमें अनुपम आकर्षण दिखायी देता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि इधर इनकी लेखनी ने विश्राम ले लिया है। वे कहानियाँ भी लिखते हैं, अनुवाद भी करते हैं

भूपनारायण दीक्षित

और सिखाने वाला साहित्य भी लिखते हैं। 'गधे की कहानी', 'नटखट पाँडे', 'दिलावर सियार' आदि उनकी बालोपयोगी ऐसी सुन्दर कहानियाँ हैं कि लड़के बिना समाप्त किये इन्हें छोड़ नहीं सकते। कथा ज्यों ज्यों आगे बढ़ती है, भाषा की खानी भी बढ़ती जाती है और उसका स्वरूप भी निखरता आता है। बड़ी रोचक भाषा में ज्ञान की घूँटी भी ये बालकों के गले से नीचे उतार देते हैं। 'कीड़े मकोड़े' तथा 'दीर्घजीवन के रहस्य' इनकी ऐसी ही कृतियाँ हैं। इनके अनुवाद में 'शिशुपाल वध' विशेष उल्लेखनीय है। संस्कृत के बड़े विद्वान् होने पर भी इनके अनुवाद में संस्कृत का तत्समत्व नहीं रहता। इनकी पद्य पुस्तक 'खिलवाड़' और इनकी व्याकरण सम्बन्धी अँग्रेज़ी पुस्तक भी लोग अच्छी बतलाते हैं।

दीक्षित जी का सारा परिवार साहित्य सेवी है। इनकी स्त्री ने 'बाल-कथा-कौमुदी' तथा 'प्यारी कहानियाँ' नामक दो पुस्तकें लिखी हैं; बच्चों के लिए वे अच्छी हैं। इनमें अपने पति की शैली अनुकरण करने की अपूर्व शक्ति है। 'जापानी बाल कहानियाँ' के लेखक कन्हैयालाल दीक्षित, भूपनारायण के सब से छोटे भाई हैं। भूपनारायण दीक्षित की अभी बहुत सी अप्रकाशित पुस्तकें पड़ी हैं। उनका मझला भाई भी कुछ साहित्यिक कार्य कर रहा है। दीक्षित परिवार की साहित्य सेवी की अनुपम लगन सराहनीय है। यदि वह स्थिर रही तो सम्भव है हिन्दी-जगत आपका और अधिक उपकृत हो।

दारागंज के भगवती प्रसाद बाजपेयी ने 'बालकों का शिष्टाचार',

'आकाश पाताल की बातें', 'बालक ध्रुव', तथा 'बालक प्रह्लाद' नामक अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। इनकी शैली में भी बालकों को उलझा लेने की अच्छी क्षमता है।

स्त्रियों का साहित्य पर्याप्त बढ़ गया है। स्वयं स्त्रियाँ आज अच्छी लेखिकायें हैं। कामशास्त्र, शिशुपालन, गार्हस्थशास्त्र, शरीर विज्ञान, पाकशास्त्र, सीना पिरोना इत्यादि सभी विषयों पर अच्छी पुस्तकें और लेख मालाएँ निकल रहीं हैं। प्रयाग की यशोदा देवी, स्त्रियों की मानसिक और ऐहिक उन्नति के लिए अच्छे साहित्य की सृष्टि कर रही है। उमा नेहरू ने भी हिन्दी गद्य की अभिवृद्धि की है। कृष्णकान्त मालवीय ने स्त्रियोपयोगी अच्छे अच्छे ग्रन्थ लिखे हैं। कानपुर के डाक्टर रामनारायण वर्मा तथा प्रसादीलाल झा ने प्रसूति विषयक दो अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। केशव कुमार ठाकुर, ज्योतिर्मयी ठाकुर, चन्द्रावती लखनपाल प्रभृति व्यक्तियों ने स्त्रियों के लिए काफ़ी साहित्य लिखा है। 'महारथी' के बन्द हो जाने से स्त्रियों का एक यन्त्र बन्द हो गया।

गद्य साहित्य के विकास में अँग्रेज़ विद्वानों ने भी समय समय पर अच्छी सेवायें की हैं। अतएव यहाँ पर उन विद्वानों का नामोल्लेख आवश्यक है।

हिन्दी गद्य में अँग्रेज़ी का योग

कलकत्ते के जान गिलक्रिस्ट साहब ने आरम्भ में श्री लल्लूलाल तथा सदलमिश्र को गद्य-लेखन की ओर प्रेरित किया था। अँग्रेज़ों के आगमन काल में ईसाई-धर्म-प्रचारकों और पादरियों ने हिन्दी में जो अनेक पुस्तकायें रची थीं, उनका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं। हिन्दी में बाइबिल के लेखन में विलियम केरी, मि० वार्ड और मि० मार्शमेन का समूचा प्रयास, हिन्दी-गद्य के इतिहास में एक प्रभावपूर्ण घटना रहेगी। बाइबिल के अतिरिक्त इन सज्जनों ने सिरामपुर में एक प्रेस खोलकर रामायण तथा अन्य पुस्तकें लिखीं और प्रकाशित की थीं। बाइबिल का हिन्दी रूपान्तर सन् १८०९ ई० में हुआ था। सन् १८१८ तक प्रायः सभी ईसाई-धर्म-पुस्तकों का हिन्दी

अनुवाद तैयार हो गया। सिरामपुर से सन् १८३६ में 'दाऊद के गीत' नाम की एक अच्छी पुस्तक निकली। मिर्ज़ापुर से भी रोरिङ्ग साहब की प्रधानता में ऑरफ़ेन प्रेस से कई पुस्तकें प्रकाशित हुई। गद्य के अतिरिक्त इस काल के दो ईसाई कवि भी प्रसिद्ध हैं—'आर्सी' और 'जान'।

जान गिलक्रिस्ट साहब के सहयोगी कप्तान अब्राहम लाकेट, प्रोफ़ेसर टेलर और डाक्टर हन्टर का नाम भी उनके हिन्दी-प्रेम के लिए प्रसिद्ध था। जान गिलक्रिस्ट साहब ने अपने फ़ोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी पुस्तकों के मुद्रण हेतु एक प्रेस भी खोला था। इसी प्रेस से जॉन क्रिश्चियन द्वारा लिखित 'मुक्ति-मुक्तावली' नामक एक और उल्लेखनीय पुस्तक प्रकाशित हुई है। इस प्रकार हिन्दी गद्य की आरम्भिक धारा में ईसाई अँग्रेज़ों की सेवायें उसी प्रकार स्मरणीय रहेंगी, जिस प्रकार आज हम मुसल्मान हिन्दी लेखकों की कृतियों से प्रभावित हैं।

बीसवीं सदी के गद्य-विकास में भी ईसाइयों का योग प्रभावपूर्ण है। आक्सफ़ोर्ड के प्रोफ़ेसर डाक्टर ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य का जो महत्वशाली इतिहास तैयार किया है, उसकी महत्ता आज भाषाविदों पर अच्छी तरह अधिकार किए है। आज भी हिन्दी के अँग्रेज़ लेखक हमारे साहित्य का भण्डार भरते हैं। चार्ली एफ़ एन्ड्रयूज़ साहब बहुधा हिन्दी में लेख लिखते हैं। पालटेन्ड एस० जे० की भी हिन्दी-भक्ति सराहनीय है। कानपुर के रेवरेण्ड किड ने समय समय पर लेख और कवितायें लिखी हैं। उपर्युक्त अँग्रेज़ विद्वान् गद्य लेखकों के अतिरिक्त, डाक्टर ग्रियर्सन जैसे अनेक अँग्रेज़ों का एक प्रथक समुदाय भी है जिन्होंने अँग्रेज़ी में ही हिन्दी साहित्य पर यथेष्ट मात्रा में लिखा है। मि० के और मि० ग्रीव्ज़ ने हिन्दी के सुन्दर इतिहास अँग्रेज़ी में लिखे हैं; मि० केलाग ने हिन्दी व्याकरण अँग्रेज़ी में लिखी है। डा० वाट्सन भी हिन्दी के अच्छे भक्त हैं।

साहित्य रसिकों के लिए यह स्वाभाविक है कि वे जिन-जिन भाषाओं

के सम्पर्क में आवें, उनकी अच्छी कृतियों से प्रभावित हों। साहित्यिक की यह रुचि होती है कि कला की जो अभिव्यक्ति उस पर प्रभाव डालती है उसका परिचय दूसरे रसिकों से भी करावे। परन्तु प्रत्येक भाषा की कुछ न कुछ अपनी निजी विशेषताएँ रहती हैं, जो दूसरी भाषाओं में नहीं मिल सकतीं। एक अनुवादक का यह सबसे कठिन कार्य है कि वह उन विशेषताओं को पकड़ कर उनके लिए अपनी भाषा में मौलिक उद्भावनाएँ करे। इस दृष्टि से कभी-कभी एक अच्छे रूपान्तरकार और अनुवादक का कार्य मौलिक लेखक से भी गुरुतर होता है; उसे दोनों भाषाओं का ज्ञान अपेक्षित है।

रूपान्तरकार और अनुवादक

अपनी भाषा की श्री वृद्धि के लिए अनुवादों की बड़ी आवश्यकता है। युरोपीय भाषा में भी अनुवाद होते हैं। भारतवर्ष के साहित्य में रूपान्तर करने की प्रथा बड़ी प्राचीन है। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास में भी संस्कृत कवियों के भावापहरण की वृत्ति दिखायी देती है। केशवदास ने तो संस्कृत को आधार ही बना रखा था। रीति-काल के कवि तो संस्कृत साहित्य के पूर्णरूप से ऋणी हैं। हिन्दी के आरम्भ के लेखक लल्लूलाल और सदलमिश्र अनुवाद करते ही दिखाई देते हैं। स्वयं हरिश्चन्द्र के कई नाटक अनुवादित हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रोत्साहन से रूपनारायण पाँडे, रामचन्द्र वर्मा, बड़े अच्छे अनुवादकों के रूप में सामने आते हैं। इन सज्जनों का कार्य अद्वितीय है। अँगरेज़ी, बङ्गला, मरहठी, गुजराती, उर्दू इत्यादि विषयों के बहुत से ग्रन्थ वर्माजी ने अनुवादित किए। भिन्न-भिन्न भाषाओं पर इतना अधिक अधिकार अन्य किसी को नहीं है। अनुवादित पुस्तकों में मूल-भाव बड़ी सत्यता और निश्छलता से प्रकट किए गये हैं। अनुवाद बड़े उच्च कोटि के हैं। हिन्दी भाषा के ये बड़े अच्छे पारखी थे अतएव अनुवाद करते समय इन्हें शब्द संकोच के कारण मूल भाषा के शब्दों

को ग्रहण नहीं करना पड़ा। मुहावरों का बड़ा बेजोड़ अनुवाद है। भाषा स्वतन्त्र रूप से बहती चलती है।

रूपनारायण पाँडे ने प्रायः बङ्गला की पुस्तकों का अनुवाद किया। इनकी भी भाषा कसी हुई और प्राञ्जल है। मूल के भावों की रक्षा बड़ी योग्यता के साथ की गयी है। इण्डियन प्रेस में इनके बहुत से अनुवाद छपे हैं। उन्होंने कुछ अनुवाद पद्य में भी किए हैं। काशी के रामचन्द्र शुक्ल ने भी कई पुस्तकों का अनुवाद किया है। आपके अनुवाद बड़े सतर्क और सजग हैं। आपने अपनी लपेटदार शैली का प्रयोग इन अनुवादों में नहीं किया। छोटे-छोटे वाक्य ही प्रायः दिखायी देते हैं। रूपान्तर करने में वे कभी कभी मूल से भी अधिक मौलिक हो गये हैं। रखालदास का 'शशाङ्क', मौलिक 'शशाङ्क' से कहीं अधिक समुन्नत है। आपने कुछ अनुवाद पद्य में भी किए हैं।

संस्कृत के भी बहुत से अनुवाद हुए हैं। प्राचीन संस्कृत अनुवादों के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। ऋषीश्वरनाथ भट्ट ने 'कादम्बरी' का एक बड़ा अनुवाद भेंट करके हिन्दी की सेवा की है। 'कादम्बरी' के लम्बे-लम्बे समस्त पद अपना विशेष आनन्द रखते हैं। उस आनन्द की अवतारणा भट्ट जी के अनुवाद के अतिरिक्त अन्य अनुवादों में नहीं मिलती। चन्द्रशेखर शास्त्री ने 'बाल्मीकि रामायण' और 'महाभारत' के अनुवाद किए हैं। ये हिन्दी के लिए मूल्यवान ग्रन्थ हैं। गोरखपुर के गीता प्रेस ने 'भागवत' का एक सुन्दर अनुवाद निकालने की योजना की है। इसके पहले उक्त प्रेस ने संस्कृत से हिन्दी अनुवाद कई निकाले हैं। 'महाभारत' के अनुवाद अन्य प्रकाशकों ने भी कराये हैं। मरहठी 'गीता रहस्य' का सुन्दर अनुवाद माधोराव सप्रे ने हिन्दी में उपस्थित किया है। मरहठी की दूसरी पुस्तक 'दासबोध' का एक अनुवाद माधोराव सप्रे ने और दूसरा रामचन्द्र वर्मा ने किया है। प्रयाग के लक्ष्मीधर बाजपेयी ने भी कई मरहठी पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया है। लक्ष्मीनारायण ने भी मरहठी से अनेक सन्तों की

जीवनियों का अनुवाद किया है। आपने कुछ अँगरेज़ी ग्रन्थों का भी रूपान्तर किया है। 'विशाल भारत' पत्र देखने से पता चलता है कि धन्यकुमार जैन, रवीन्द्रनाथ टैगोर के ग्रन्थों का अनुवाद धारावाहिक रूप में कर रहे हैं।

गुजराती की बहुत सी प्रसिद्ध पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद हुआ है। गाँधी जी की 'आत्म-कथा' नामक पुस्तक गुजराती से ही अनुवाद की गयी है। हरिभाऊ उपाध्याय, काशीनाथ त्रिवेदी, रामचन्द्र वर्मा, गुजराती के प्रसिद्ध अनुवादकों में से हैं। अँगरेज़ी पुस्तकों के अनुवाद का व्यवसाय तो बहुत दिनों से चल रहा है। छविनाथ ने अँगरेज़ी की बहुत सी पुस्तकों का भावानुवाद किया है। प्रेमचन्द जी ने उर्दू की पुस्तकों का रूपान्तर तो किया ही है, अँगरेज़ी के नाटकों का भी हिन्दी में अनुवाद किया है। अँगरेज़ी पुस्तकों के रूपान्तर करने में महावीर प्रसाद द्विवेदी पटु थे; उनकी रूपान्तर शैली की स्पष्टता और स्फूर्ति अगर किसी रूपान्तरकार में देखने में आती है तो वह गणेश शङ्कर विद्यार्थी में। भाषा और मुहावरों का उचित प्रयोग तो उनमें सर्वत्र ही है। काट-छाँट और घटाने-बढ़ाने की अनुपम शक्ति उनमें विलक्षण है। विदेशी वातावरण, विदेशी रङ्ग-ढङ्ग और स्वरूप हिन्दी वालों के लिए पूर्णरूप से सुबोध नहीं हो सकता। गणेशशङ्कर का विदेशी रङ्ग-ढङ्ग का भारतीकरण अनुपम होता था। उनके सब अनुवादों में यह बात पायी जाती है। 'वलिदान' उनका एक प्रसिद्ध अनुवाद है। श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने 'अमरपुरी' नाम से Eternal City का अनुवाद गणेशशंकर के ढर्रे का करना चाहा था; परन्तु वे मूल की सरसता की रक्षा न कर सके। जनार्दन भट्ट ने भी कुछ ग्रन्थों का अनुवाद किया है। अँगरेज़ी के अच्छे लेख प्रायः प्रतिदिन अनुवादित होते रहते हैं। 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' ने अनुवादों की अच्छी व्यवस्था की है और भाषा की ओर भी इसका अच्छा ध्यान है। अनुवादों का एक विशेष स्थान होता है। अनुवादों की बढ़ती से

मौलिक साहित्य के सृजन में कोई व्याघात उत्पन्न नहीं हो सकता। विदेशी विचारों को सरलता से आत्मसात करने से मौलिक लेखकों में परिपक्वता और प्रौढ़ता आती है; और एकङ्गापन का, जो साहित्यिक व्यापकता के लिए व्याघात उपस्थित करता है, परिहार होता है। साहित्यिक कूपमण्डूकत्व के संकीर्ण तल से ऊपर उठकर उसके सार्वभौमिक व्यापकत्व का आभास कराने के लिए अनुवादों की बड़ी आवश्यकता है। जिस जाति के साहित्य में अनुवाद कम होते हैं, उसकी मौलिक कृतियों में सरस्वती का विहार-आकाश बड़ा सीमित रहता है। कभी-कभी उसमें एकङ्गापन, प्रान्तीयता, अनुदारता और स्वार्थपूर्ण-पक्षपात दिखायी पड़ता है।

काशी, प्रयाग, तथा अन्य नगरों की कुछ संस्थाओं ने, हिन्दी की बड़ी सेवाएँ की हैं। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' तथा 'प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन' दोनों हिन्दी की बड़ी पुरानी संस्थाएँ हैं। प्रान्तीय सरकार ने हिन्दी, उर्दू की उन्नति के लिए गत नौ वर्षों से 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' नामक एक संस्था स्थापित की है। कहते हैं हिन्दी-उर्दू के निकट लाने में तथा हिन्दी-उर्दू की प्रगति को इस संस्था से बड़ा प्रोत्साहन मिला है। अनेक मौलिक पुस्तकें और बहुत से सरस अनुवाद, एकेडमी ने प्रकाशित किए हैं। इन संस्थाओं के अतिरिक्त आरा, आगरा, कानपुर तथा अन्यान्य प्रमुख नगरों में भी हिन्दी प्रचार के लिए जो संस्थाएँ हैं, वे कुछ न कुछ उपयोगी कार्य कर रहीं हैं।

हिन्दी की उन्नति के लिए संस्थाएँ

इन संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ व्यक्ति स्वयं कई संस्थाओं के बराबर हैं और उनके अध्यवसाय में हिन्दी बहुत उन्नति कर रही है। काशी के रायबहादुर श्यामसुन्दरदास का नाम लिया जा चुका है। देश के प्रसिद्ध नेता महामना मदन मोहन मालवीय तथा प्रयाग के पुरुषोत्तमदास टंडन इसी प्रकार के सज्जनों में से हैं। इनके सहयोग से हिन्दी

की बड़ी उन्नति हुई है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय के पत्र और उनके समय की पत्रिकाओं का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। उस समय प्रकाशन के साधन इतने सरल न थे। छापेखानों का अभाव था; जो थे वे भी बड़े पुराने ढङ्ग के। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी उस समय के उत्साही साहित्य-सेवकों ने पत्रों को निकाला, वे सब साहित्य-सेवा के व्रती थे। पाठकों का भी अभाव था, अतएव उस काल के सम्पादकों को एक ओर पाठकों को उत्पन्न करना था और दूसरी ओर साहित्य को सँवारना था। इस युग की सब से प्रभावशालिनी पत्रिका 'सरस्वती' थी। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने इसे निकाला और श्यामसुन्दरदास इसके सम्पादक थे। परन्तु जिस समय से इसे महावीर प्रसाद द्विवेदी का सहयोग प्राप्त हुआ, इसकी उपयोगिता बहुत बढ़ गयी। भाषा के लिए 'सरस्वती' बहुत काल तक आदर्श मानी जाती थी। इसी के साथ और जिन पत्र और पत्रिकाओं का जन्म हुआ, उन्होंने भी इसी के अनुकूल रूप-रङ्ग सवाँरना आरम्भ कर दिया। सरस्वती के थोड़ा पहले 'कान्यकुब्ज हितकारी' नामक एक जातीय-पत्र निकला था जो किसी न किसी रूप में अभी तक निकलता आ रहा है। इसकी जातीय सेवाएँ कुछ भी हों परन्तु हिन्दी-साहित्य की उन्नति में इसका कोई विशेष योग नहीं रहा। विशेष-विशेष आदर्शों से प्रेरित होकर कुछ नये पत्र और पत्रिकाएँ निकलीं। 'त्रैमासिक श्री शारदा,' मासिक रूप की 'श्री शारदा' से अच्छी थी। 'इन्दु,' 'लक्ष्मी,' 'प्रतिभा,' और 'कमला' एक प्रकार की पत्रिकाएँ थीं और उनका सम्पादन अच्छा होता था। कानपुर की 'प्रभा' और प्रयाग की 'मनोरमा' और 'मर्यादा' काफ़ी समुन्नत पत्र थे। राजनीति का समावेश होने के कारण 'प्रभा' इस युग की एक विशिष्ट पत्रिका थी। उसके लेख और टिप्पणियाँ सब ज़ोरदार होते थे। 'तरंगिणी' नाम की एक पत्रिका भी संस्कृत-

पत्र और पत्रिकाएँ

साहित्य की उन्नति के लिए निकली और दो वर्षों तक निकल कर बन्द हो गयी। आरा की 'मनोरञ्जन' पत्रिका और कानपुर का 'हिन्दी मनोरञ्जन' पत्र हास्यरस की सामग्री प्रस्तुत करते थे। कौशिकजी के सम्पादन-काल में, जो हास्य-रस के एक विज्ञ लेखक हैं, हिन्दी मनोरञ्जन की बड़ी उन्नति हुई। भाषा और साहित्य प्रचार के लिए प्रयाग की 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका', आरा की 'साहित्य पत्रिका', और लखनऊ का 'नागरी प्रचारक' अच्छे पत्र थे। साहित्य-सम्मेलन पत्रिका का रूप हमेशा बदलता रहा और इसके सम्पादक भी बदलते रहे। आरा की पत्रिका का सम्पादन बृजनन्दन सहाय करते थे। लखनऊ का 'नागरी प्रचारक', रूपनारायण पाँडे द्वारा सम्पादित था। 'देवनागर' नागरी वर्णमाला के प्रचार का उद्देश्य लेकर अवतीर्ण हुआ और जब तक यह पत्र निकलता रहा इसने अपने उद्देश्य की पूर्ति की। गोपालराम गहमरी ने 'समालोचक' नामक एक पत्र अपने सम्पादकत्व में जयपुर से निकाला; बाद में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इसके सम्पादकीय पीठ पर बैठे। यह समालोचना का पहला पत्र था। बाद में कृष्ण विहारी मिश्र ने अपने ग्राम गँधौली ज़िला सीतापुर से एक पत्र निकाला जिसका नाम 'समालोचक' था। इसके सम्पादक-मंडल में कृष्ण विहारी के अतिरिक्त उनके छोटे भाई विपिन बिहारी और नवल बिहारी भी सम्मिलित थे। इसने बहुत काल तक हिन्दी की सेवा की। हरिभाऊ उपाध्याय ने 'मालव-मयूर' नामक एक पत्र काशी से निकाला, यह अपने राजनीतिक लेखों के लिए मशहूर था। ज्ञानमंडल काशी ने अर्थ-शास्त्र सम्बन्धी 'स्वार्थ' नामक पत्र निकाला इसमें अर्थशास्त्र सम्बन्धी बड़े विवेचना पूर्ण लेख होते थे। विहार की 'वैशाली' तथा वहाँ के साप्ताहिक 'हलधर' के कुछ दिनों तक दर्शन हुए थे। ग्वालियर की 'आशा' में भी बड़ी आशा थी। काशी का 'नवनीत' नामक पत्र भी अपनी महत्ता रखता था। प्रयाग के हिन्दी प्रेस के स्वामी रामजीलाल शर्मा ने 'विद्यार्थी' नामके पत्र की संस्थापना करके बहुत दिनों तक

चलाया। वीर प्रधान पत्र 'महारथी' दिल्ली से निकलता था। बड़ौदा का 'व्यायाम' नामक पत्र अब भी अपने विषय का अद्वितीय पत्र है। 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' पहले मासिक रूप में निकलती थी परन्तु जब से इसका आकार त्रैमासिक हुआ इसका साहित्यिक मूल्य भी बढ़ गया है। इसके लेख अनुसन्धानपूर्ण और पठनीय होते हैं। हिन्दुस्तानी एकेडमी की मुख्य पत्रिका 'तिमाही हिन्दुस्तानी' अपनी भाषा सम्बन्धिनी विशेषता को समक्ष रखकर अवतीर्ण हुई है; इसने हिन्दी उर्दू के मेल का भार अपने ऊपर लिया है। डाक्टर भगवानदास और आचार्य नरेन्द्रदेव के सम्पादकत्व में काशी विद्यापीठ की मुख्य पत्रिका 'विद्यापीठ' बहुत काल तक सेवा करती रही। विश्वविद्यालयों में, कालेज और स्कूलों में जितने पत्र प्रकाशित होते हैं उन सब में हिन्दी का विशेष स्तंभ रहता है। 'विश्वमित्र,' 'विशाल भारत,' 'माधुरी,' 'वीणा,' तथा 'सुधा' अच्छे पत्रों में गिने जाते हैं। 'आर्य महिला,' 'सहेली,' 'चाँद' विशेष आदर्शों को समक्ष रख कर निकाले गये हैं और उनकी पूर्ति में अग्रसर हैं। 'गृह लक्ष्मी' और 'स्त्री दर्पण' स्त्रियों के पुराने पत्र थे। अब इनका प्रकाशन स्थगित हो गया है। 'तपोभूमि' बहुत काल तक हिन्दी की सेवा करती रही है। बाद में वह साप्ताहिक रूप में निकलने लगी। प्रेमचन्द जी का 'हंस' कहानियों के लिए प्रसिद्ध है। 'हंस' ने जो आयोजन आरम्भ किया है वह हिन्दी की उन्नति के लिए परमावश्यक था। प्रयाग की 'माया' भी कहानियोंकी पत्रिका है। आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र में 'वेदोदय' अपना काम कर रहा है। वैसे गोरखपुर के गीता प्रेस से निकलने वाला 'कल्याण' सर्व श्रेष्ठ धार्मिक पत्र है। इसने न जाने कितने विशेषाङ्कों को निकाल कर हिन्दी में अतुलनीय पाठ्यसामग्री एकत्र कर दी है। इसके ग्राहक कदाचित सब पत्रिकाओं से अधिक हैं। देवकी नन्दन खत्री और रत्नाकर जी के सम्पादकत्व में 'साहित्यसुधा निधि' नामक एक पत्रिका निकलती थी जिसका उद्देश्य

समस्यापूर्ति छापना था। इसी प्रकार का पत्र राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'रसिक मित्र' था। सनेही जी का 'सुकवि' भी उसी कोटि का पत्र है। 'समन्वय' एक आध्यात्मिक पत्र है और 'गंगा' अच्छे अच्छे विशेषाङ्को के निकालने के लिये प्रसिद्ध है। जबलपुर की 'प्रेम' तो अब बन्द हो गयी परन्तु खरगौन की 'वाणी' अपना काम कर रही है। प्रयाग के 'विज्ञान' के वैज्ञानिक लेख बड़े उच्च कोटि के होते हैं। प्रयाग से 'सेवा' और 'भूगोल' नाम के दो पत्र अपने विषय के अच्छे निकलते हैं। 'शान्ति' पत्रिका को निकले अभी थोड़े ही दिन हुए थे कि लाहोर से 'भारती' नाम की एक उच्च कोटि की पत्रिका निकल कर बन्द हो गयी। जातीय पत्रों में 'कान्यकुब्ज' और 'अग्रवाल' उच्चकोटि के पत्र हैं। प्रयाग से 'शिक्षक' नामक शिक्षा सम्बन्धी एक नया पत्र अभी हाल में निकला है। इसके लेख उच्चकोटि के होते हैं।

साप्ताहिक पत्रों में जायसवाल जी का 'पाटलिपुत्र', भाई परमानन्द की 'आकाश वाणी', सुन्दरलाल जी का 'कर्मयोगी' और 'भविष्य' तथा चाँद प्रेस का 'भविष्य' अपने अपने उद्देश्यों को लेकर निकले और बन्द हो गये। इसके अतिरिक्त नागपुर का हिन्दी 'केसरी' तथा 'श्रीकृष्ण सन्देश', 'हिन्दू पञ्च', 'सैनिक', 'तरुण राजस्थान', 'स्वदेश', 'देश' और 'निष्काम' इत्यादि साप्ताहिक पत्र निकले और बन्द हो गये। इनमें से कई पत्र काफ़ी अच्छे थे। सैनिक फिर निकलने लगा है। 'चित्र मय जगत' अपने ढंग का एक अद्वितीय पत्र है। इसकी भाषा मँजी हुई और सुव्यवस्थित होती है। ग्वालियर का 'जयाजी प्रताप' भी एक अच्छा पत्र है। कानपुर का 'मनसुखा' छपाई, सफ़ाई में एक अच्छा पत्र था। 'मतवाला' और 'मौजी' भी अपनी विशेषताओं को लेकर निकाले गये थे। आज यह सब बन्द होगये हैं। मालवीय जी का 'अभ्युदय' कभी कभी विश्राम लेकर बहुत पुराने काल से सेवा करता चला आया है। काशी का 'जागरण' पहिले शिवपूजन सहाय की संरक्षता में पाक्षिक था बाद में प्रेमचन्द ने

साप्ताहिक रूप में प्रकाशित करना आरम्भ किया। फिर वह सम्पूर्णानन्द के सम्पादकत्व में निकला। लीडर प्रेस का 'भारत' भी एक समय अच्छे साप्ताहिक और फिर अर्द्ध साप्ताहिक रूप में निकल चुका है। रीवाँ का 'प्रकाश' और खंडवा का 'स्वराज्य' भी साप्ताहिक रूप में निकलते हैं। कलकत्ते का साप्ताहिक 'विश्वमित्र' एक उच्चकोटि का पत्र है। कानपुर का साप्ताहिक 'प्रताप' अद्वितीय निर्भीकता को लेकर राजनीतिक क्षेत्र में उतरा। गणेशशंकर के व्यक्तित्व का 'प्रताप' दर्पण है। न जाने कितने प्रहार हुए परन्तु 'प्रताप' उसी निर्भीकता के साथ अपना कार्य करता चला आ रहा है। जिस प्रकार राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं में गणेश शंकर के स्फूर्ति-स्फुलिंग को सुलगाकर आज बहुत से देशभक्त हो गये हैं उसी प्रकार उनकी लेखनी की निर्भीकता और शैली के ओज के कुछ कणों को एकत्रित करके आज बहुत से लेखक और पत्रकार पैदा हो गये हैं। खंडवा का 'कर्मवीर' एक उत्तम साप्ताहिक पत्र है। उसके सम्पादक हिन्दी के कीर्ति-सम्पन्न लेखक और कवि, माखन लाल चतुर्वेदी हैं। माखनलाल चतुर्वेदी के लेखों के कारण यह पत्र साहित्यिकता में बेजोड़ है। उसकी आलोचनाएँ बड़ी प्रसिद्ध होती हैं। अभी-अभी हेमचन्द्र जोशी ने कलकत्ते से 'विश्ववाणी' नामक एक अच्छा साप्ताहिक निकाला है।

हिन्दी के दैनिक पत्रों का जीवन सर्वदा बाधामय रहता है। पत्र निकलते हैं और बन्द हो जाते हैं। इस उल्कामय जीवन के कई कारण हैं। यहाँ के पाठकों में अभी अपने तथा अपने देश के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने की यथेष्ट लगन नहीं है। व्यवसायियों और व्यापारियों ने विज्ञापन देने का महत्व अभी नहीं सीखा है। अधिकारियों की भी दृष्टि निर्भीक आलोचना करने वाले पत्रों के प्रति सहानुभूति-पूर्ण नहीं होती। फिर भी युग में बड़ा परिवर्तन हो गया है। दैनिक पत्रों की माँग उत्तरोत्तर बढ़ रही है। काशी का 'आज' सब से पुराना पत्र है, बाबू राव पराड़कर इसके आरम्भ से सम्पादक चले आ रहे हैं। इनके

विद्वान होने में कोई सन्देह नहीं, परन्तु इनकी शैली में ऐसा रूखापन है कि इस पत्र को साधारण जनता नहीं अपना सकती। इसके ठीक विपरीत कानपुर के 'वर्तमान' का हाल है। इसके सम्पादक रमाशंकर अवस्थी को कुछ ऐसे सम्पादकीय हथकंडे मालूम हैं कि धनाभाव होने पर भी और सारे विघ्न-बाधाओं के आने पर भी 'वर्तमान' अबाध रूप से निकलता चला जा रहा है। रमाशंकर की लेखनी में ओज है, मनोविनोद-पूर्ण व्यंग है, तथा साफ सुथरी स्पष्टता है। 'दैनिक-प्रताप' भी बड़ी सुन्दरता के साथ निकल रहा है और इसके अग्रलेखों में हरीशंकर विद्यार्थी की उज्वल शैली बड़ी स्पष्टता के साथ एक विशेष दिशा की ओर ढल रही है। 'प्रताप' इस प्रान्त का एक अच्छा दैनिक पत्र है। दिल्ली का 'अर्जुन' और लाहोर का 'हिन्दी मिलाप' उत्तर-भारत के लिए हिन्दी-प्रचार का अच्छा कार्य कर रहे हैं। प्रयाग का दैनिक 'भारत' नरमदल के राजनीतिज्ञों का सञ्जीदा पत्र है। कलकत्ते के 'विश्वमित्र', 'लोकमित्र', 'भारतमित्र' अच्छे पत्र कहे जाते हैं। मध्य-प्रदेश के 'लोकमत' का स्थान लेने वाला अभी कोई दूसरा प्रभावशाली पत्र नहीं निकला। अच्छा पत्र होने पर भी 'लोकमत' अधिक दिन तक नहीं टिक सका।

चिकित्सा सम्बन्धी और स्वास्थ्य सम्बन्धी कुछ पत्र पत्रिकाएँ निकलीं, बन्द हुई और निकल रही हैं। 'रंगमंच' नामक नाटक सम्बन्धी पहला पत्र कलकत्ते से निकल रहा है। 'रंगभूमि', और 'चित्रपट' सिनेमा-सम्बन्धी साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं। समय समय पर जो राजनीतिक और धार्मिक आन्दोलन उठ खड़े होते हैं, उनके प्रचार के लिए कुछ पत्र निकाले जाते हैं। वे अपना कार्य कर बन्द हो जाते हैं। ऐसे पत्रों की तालिका उपस्थित करना व्यर्थ है। हरिजन आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए 'हरिजन' पत्र के अतिरिक्त मद्रास का 'हिन्दी प्रचारक' अच्छा काम कर रहा है। वर्मा और सीलोन के अतिरिक्त आजकल विदेशों में भी हिन्दी पत्र निकल रहे हैं। आफ्रिका का साप्ताहिक 'हिन्दी' जिसका

सम्पादन महात्मा भवानीदयाल करते थे अच्छा पत्र था। फ़िजी द्वीप से 'वृद्धि' नामक मासिक पत्रिका और 'हिन्दी समाचार' नामक साप्ताहिक पत्र अच्छे निकल रहे हैं।

भारतवर्ष में हिन्दी सम्पादकों का एक संगठन भी है। इसका अधिवेशन प्रत्येक वर्ष होता है। लेखकों का सङ्गठन करने वाला प्रयाग का लेखक-सङ्घ, 'लेखक' नामक एक मासिक पत्र निकालता है। सम्पादन कला पर विष्णुदत्त शुक्ल ने 'पत्रकार कला' नामक ग्रन्थ लिखा है।

हिन्दी गद्य की उन्नति में और भी साधन काम कर रहे हैं। देश की वर्तमान परिस्थिति में जो आन्दोलन समय समय पर उठा करते हैं,

हिन्दी-गद्य की उन्नति के कुछ कारण और टाकीज़

उनका माध्यम बन कर हिन्दी-गद्य बहुत उन्नति कर रहा है और इसका प्रसार भी निरन्तर बढ़ता जा रहा है। देश की राष्ट्रीय महासभा ने भी अपने मंच से हिन्दी को राष्ट्र-भाषा होना स्वीकार कर लिया है। यह हिन्दी-गद्य की आशातीत उन्नति का लक्षण है। इधर टाकीज़ के अभिनयों के साथ साथ हिन्दी का अन्तर-प्रान्तीय प्रचार भी बढ़ रहा है। इन अभिनयों में साहित्यिकता यद्यपि नाम-मात्र ही होती है, फिर भी लगभग सभी नई टाकीज़ कम्पनियों में हिन्दी के ही अधिकांश नाटक अभिनय किए जाते हैं। मालती-माधव, सीता, भक्त प्रह्लाद, नन्द के लाल, माया मच्छीन्द्र, सैरन्ध्री इत्यादि कुछ चित्रों का काफ़ी प्रचार हुआ और जहाँ जहाँ ये खेल पहुँचे हैं वहाँ हिन्दी न-जानने वालों में कुछ न कुछ हिन्दी सीखने-पढ़ने के प्रति अनुराग अवश्य उत्पन्न हुआ है। टाकीज़ का प्रसार देश में सर्वत्र हिन्दी का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ा रहा है। टाकीज़ निकालने वाली कम्पनियों का कार्य इस समय बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण है। जहाँ एक ओर उन्हें इस बात की चेष्टा करनी है कि उनके अभिनय सुरुचिपूर्ण, लोकव्यापक, आदर्श

चरित्रों से समन्वित, ऊँचे उठाने वाले हों, वहाँ उन्हें इस बातपर भी ध्यान रखना चाहिए कि उनके अभिनयों की भाषा अन्तर-प्रान्तीयता का विचार रखते हुए साहित्यिक हो। इसी दृष्टि से अभिनय रचयिताओं को आश्रय देना चाहिए। आज कल इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता। कम्पनी के स्वामियों का ध्यान धनोपार्जन की ओर अधिक है। कुछ ऐसी अँधाधुन्धी मची है कि कई नाटककार, कहानीकार, उपन्यासकार केवल फुर्तीली भाषा लिखने की बदौलत, तड़कीले और भड़कीले कथानकों को उपस्थित कर देने के कारण इन कम्पनियों के प्रश्रय में अच्छा वेतन पा रहे हैं और अपने को सफल नाटककार समझ रहे हैं। टार्कीज़ के स्वामियों का ध्यान जब तक हिन्दी-प्रचार-कार्य को साथ लेकर न चलेगा तब तक उनके कार्य का वही मूल्य होगा जो नौटङ्कियों के लेखकों का होता है।

हिन्दी-गद्य की इस संक्षिप्त विवेचना के समाप्त करने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के विषय में जो विवाद उठ खड़ा हुआ है, उस सम्बन्ध में भी कुछ विचार प्रकट किये जाँय। हिन्दी, उर्दू और हिदुस्तानी का प्रश्न गद्य-साहित्य के लिए बड़े महत्व का है। हिन्दी, वास्तव में आज तीन स्वरूपों में देखी जाती है। उसका सब से निखरा हुआ, परिमार्जित और सचिक्करण स्वरूप शुद्ध हिन्दी के नाम से प्रचलित है। हिन्दी के वर्तमान सुसम्पादित साहित्यिक मासिक पत्र तथा इस युग के नवीन साहित्यिक-ग्रन्थ, हिन्दी के इसी स्वरूप की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। हिन्दी का दूसरा स्वरूप अरबी-फ़ारसी शब्दों से निर्मित है। यह उर्दू-लिपि में लिखा जाता है और विद्वान् मुसल्मानों और हिन्दुओं के हाथों से उसमें प्रतिदिन उर्दू और फ़ारसी शब्दों की बहुलता और उर्दू व फ़ारसी व्याकरण की प्रबलता बढ़ती जा रही है। वह समय अब शीघ्र निकट आता देख पड़ता है जब उर्दू वाले हिन्दी के इस स्वरूप को कोई हिन्दी कहेगा ही नहीं। हिन्दी का तीसरा स्वरूप हिन्दुस्तानी है। इसमें ठेठ हिन्दी के साथ उर्दू-फ़ारसी और अँगरेज़ी

सभी के बोलचाल के शब्द मिले रहते हैं। इस का प्रयोग बोलने में ही अधिकतर होता है। "हिन्दुस्तानी" नामक हिन्दी की त्रैमासिक पत्रिका, तथा इसी के आदर्शवाली कुछ अन्य पत्रिकाएँ इस बात की चेष्टा में संलग्न हैं कि हिन्दी के इस खिचड़ी-स्वरूप में साहित्य का सृजन होने लग जाय। इस आन्दोलन के प्रवर्तक कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो साहित्यिक विद्वान तो नहीं हैं किन्तु हिन्दी प्रचार-कार्य के बड़े समर्थक हैं।

इस प्रकार का झगड़ा हिन्दी-क्षेत्र में नयी बात नहीं है। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह में यह विरोध बहुत पहले छिड़ चुका है। इसी पुस्तक में यह बतलाया गया है कि किस लेखक की वृत्ति किस ओर अधिक झुकी थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस विवाद में हिन्दी का पक्ष लिया था। आज यह संघर्ष उत्कर्ष पर है। 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' और 'नागरी प्रचारिणी सभा' का यही मतभेद है। 'हिन्दुस्तानी-एकेडमी' को एक ओर श्यामसुन्दर दास की शुद्ध हिन्दी से लड़ना पड़ रहा है और दूसरी ओर 'उर्दू-ए-मुअल्ला' से

'हिन्दुस्तानी एकेडमी' की 'तिमाही' पत्रिका के 'तिमाही' शब्द के प्रयोग में ही काफ़ी मतभेद है। इस सम्बन्ध में 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' ने स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा द्वारा एक लम्बा व्याख्यान दिलवाया था। उसे उक्त संस्था ने पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। पुस्तक में प्राचीन और अर्वाचीन सभी प्रसिद्ध विद्वानों की सम्मतियाँ, 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' के सम्बन्ध में संग्रहीत कर दी गयी हैं परन्तु वक्ता महोदय ने अपनी कोई स्पष्ट रायज़नी करना ठीक नहीं समझा। रामनरेश त्रिपाठी ने इस संघर्ष में काफ़ी योग दिया है। उन्होंने अपने सुन्दर और प्रभावोत्पादक लेखों द्वारा यह सिद्ध किया है कि हिन्दी को जीवित रखने के लिए उसकी ग्राहिका शक्ति बढ़ानी चाहिए और 'आम फ़हम' शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग करना चाहिए। उन्होंने एक कोष का निर्माण करके यह भी सिद्ध कर दिया कि 'शुद्ध हिन्दी' का शब्द-भंडार बिलकुल ही कम और अपर्याप्त है। प्राचीन काल से हिन्दी में शब्दों का मेल

होता आया है और कोई कारण नहीं कि, यदि हमें हिन्दी को जीवित भाषा बनाना है, तो उसका शब्द-भंडार बढ़ाया न जाय। त्रिपाठी जी की बातें विचारणीय हैं।

वास्तव में साहित्यिक भाषा के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह ढूँढ़-ढूँढ़ कर क्लिष्ट और अप्रयुक्त शब्दों का ही प्रयोग स्वीकार करे, प्रत्युत जीवित साहित्यिक भाषा के लिए यह अनिवार्य है कि उसकी ग्राहिका शक्ति बड़ी प्रबल हो, और वह किसी भी भाषा के सञ्जीवक और स्फूर्तिप्रद शब्दों को निस्सङ्कोच ग्रहण कर ले। परन्तु यह भी स्वाभाविक है कि विषय गाम्भीर्य और साहित्यिकों की शैली के पेचीदापन से अभिव्यञ्जना में दूरूहता अवश्य आ जाती है। उस गम्भीरता और जटिलता के कारण साहित्यिक भाषा में जो दुरूहता दिखलाई पड़ती है, उसके प्रतिकूल युद्ध करना साहित्य का मूलोच्छेद करना है; अतएव हिन्दी प्रचारकों को साहित्य के निर्माण में कोई बाधा न उपस्थित करनी चाहिए। साथ ही साहित्य-निर्माणकों को भी यह एक बार समझ लेना है कि ऐसे समस्त प्रतिवादों को, जिनके कारण हिन्दी-भाषा धीरे धीरे साधारण जनता से हटती जा रही है, परित्याग कर देना ही हिन्दी के लिए कल्याण-कर है। न हिन्दी-प्रचारक खड्गहस्त होकर एक साहित्यिक को सरल और सुबोध शब्दों के प्रयोग के लिए बाध्य कर सकता है, और न साहित्यिक ही सरल और कठिन शब्दों के प्रयोग का सापेक्षिक मर्म, प्रचारक को ठीक समझा सकता है। अतः हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के इस विवाद की अस्वाभाविकता को लक्ष्य में रख कर हिन्दी-संसार को चाहिए कि वह राष्ट्र-भाषा के प्रति अपने दायित्व को समझे और हिन्दी की उन्नति में वास्तविक योग दे।

पुस्तकों की अनुक्रमणिका

फ

ब

भ

म

य

र

ल

व

श

स

———

लेखकों की अनुक्रमणिका